प्राच्य और पाश्चात्य

स्वामी विवेकानन्द

(चतुर्थ संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम
नागपुर, मध्यप्रदेश

जुलाई १९५०]   [मूल्य १।)

निवेदन

हिन्दी जनता के सम्मुख स्वामी विवेकानन्द जी के 'प्राच्य और पाश्चात्य' का चतुर्थ संस्करण रखते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। यह मूल बंगला में लिखी हुई पुस्तक का अनुवाद है। इस पुस्तक में स्वामीजी ने हिन्दू राष्ट्र निर्माण के परिपोषक विचारों का विवेकपूर्ण विवेचन अत्यन्त सुलभ और स्फूर्तिदायिनी भाषा में किया है। हमारे देश में आज आत्यन्तिक आग्रही मतवादियों के दो पंथ हैं। एक तो हठ के साथ यही कहे जाता है कि जो कुछ पश्चिमीय है वही निर्दोष, परिपूर्ण एवं सर्वांगसुन्दर है तथा हमारे देश में ऐसा कुछ भी नहीं है जो विचार के योग्य हो अथवा अनुकरण का विषय बन सके। दूसरे प्रकार के लोग वे हैं जो कहते हैं 'पुराणमित्येव हि साधु सर्वम्'। उनका मत है कि जो कुछ इस देश का है वही अच्छा तथा निर्दोष हो सकता है। वे यह ख्याल ही नहीं कर सकते कि पाश्चात्यों से, उनकी संस्कृति तथा उनके विकास से भी हम कुछ सीख सकते हैं। इसी संकुचित दृष्टिकोण के कारण आज हिन्दू समाज की आत्मा नष्ट होती जा रही है और साथ ही उसमें ऐक्य तथा शक्ति का भी ह्रास होता जा रहा है। हम आशा करते हैं कि स्वामी विवेकानन्द के खूब सोच समझ के बाद लिखे हुए ये सुसंश्लिष्ट और विधायक विचार, जो इस पुस्तक में संकलित किये गये हैं, हमारी धुंधली कल्पनाओं को निर्मल बनाने में समर्थ होंगे तथा हमारे राष्ट्र को उचित मार्ग पर चलाने में विशेष सहायता पहुँचाएँगे।

डॉ० पं. विद्याभास्कर जी शुक्ल, एम. एस-सी., पी-एच. डी., प्रोफेसर, कॉलेज ऑफ साइन्स, नागपुर के हम परम कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रुफ-संशोधन कार्य में बहुमूल्य सहायता दी है।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक से हिन्दी जनता का अवश्य हित होगा।

नागपुर, दि० १५-७-१९५०

स्वामी विवेकानन्द

प्राच्य और पाश्चात्य

सलिल विपुला उच्छ्वासमयी नदियाँ, नदी-तट पर नन्दन-विनिन्दित उपवन, उनके मध्य में अपूर्व कारीगरी युक्त रत्नखचित गगनस्पर्शी संगमर्मर के प्रासाद; और उनके सामने तथा पीछे गिरी हुई टूटी फूटी झोपड़ियों का समूह; इतस्ततः जीर्णदेह छिन्नवसन युगयुगान्तरीण निराशाव्यञ्जित वदन वाले नरनारी तथा बालक-बालिकाएँ; कहीं कहीं समवर्मा, समशरीर गो-महिष और बलिवर्द, चारों ओर कूड़े का ढेर—यही है हमारा वर्तमान भारत !

वर्तमान भारत का बाहरी चित्र

अट्टालिकाओं के वक्ष में जीर्ण कुटियाँ, देवालयों के क्रोड़ में कूड़े का ढेर, रेशमी परिधान युक्त धनियों के बगल में कौपीनधारी, प्रचुर अन्न से तृप्त व्यक्तियों के चारों ओर क्षुधाक्लान्त ज्योतिहीन चक्षु वाले कातर दृष्टि लगाए हुए लोग—यही है हमारी जन्मभूमि !

विषूचिका का भीषण आक्रमण, महामारी का उत्पात, मलेरिया का अस्थिमज्जाचर्वण, अनशन, अधिक से अधिक आधा पेट भोजन, बीच बीच में महाकाल स्वरूप दुर्भिक्ष का महोत्सव, रोग शोक का कुरुक्षेत्र, आशा-उद्यम-आनंद एवं उत्साह का कंकाल-परिप्लुत महाश्मशान और उसके मध्य में ध्यानमग्न मोक्षपरायण योगी—यूरोपीय पर्यटक यही देखते हैं।

पाश्चात्य की दृष्टि में प्राच्य

तीस कोटि मानवप्राय जीव—बहुशताब्दियों से स्वजाति विजाति, स्वधर्मी-विधर्मी के दबाव से निपीड़ितप्राण, दाससुलभ परिश्रम-सहिष्णु, दासवत् उद्यमहीन, आशाहीन, अतीतहीन, भविष्यत्‌विहीन, येनकेन प्रकारेण वर्तमान में केवल प्राणधारणप्रत्याशी, दासोचित ईर्ष्यापरायण, स्वजनोन्नति-असहिष्णु, हताशवत् श्रद्धाहीन, विश्वासहीन, शृगालवत् नीच-प्रतारणा-कुशल, स्वार्थपरता से परिपूर्ण, बलवानों के पद चूमने वाले, अपने से दुर्बल के लिए यम स्वरूप, बलहीनों तथा आशाहीनों के समस्त कदर्य, भीषण कुसंस्कारों से पूर्ण, नैतिक मेरुदण्डहीन, पूतिगन्धपूर्ण मांसखण्डव्यापी कीड़ों का तरह भारतीय शरीर में परिव्याप्त—अंग्रेज सरकारी कर्मचारियों की दृष्टि में हमारा यही चित्र है।

नवबल—मधुपानमत्त, हिताहितबोधहीन, हिंस्रपशुप्राय भयानक, स्त्रीजित, कामोन्मत्त, आपादमस्तक सुरासिक्त, आचारहीन, शौचहीन, जड़वादी जड़सहाय, छलबल और कौशल से परदेश-परधनापहरण-परायण, परलोक में विश्वासहीन, देहात्मवादी, देहपोषण मात्र ही है जिसका जीवन—भारतवासियों की दृष्टि में यही है पाश्चात्य असुर।

प्राच्य की दृष्टि में पाश्चात्य।

यह तो हुई दोनों पक्ष के बुद्धिहीन बाह्य दृष्टि वाले लोगों की बात। यूरोप निवासी शीतल साफ सुथरी अट्टालिकाओं वाले नगरों में वास करते हैं, हमारे 'नेटिव' मुहल्लों को अपने देश के साफ सुथरे मुहल्लों से तुलना करते हैं। भारतवासियों का जो संसर्ग उन्हें होता है, वह केवल एक दल के लोगों का—जो शहर में नौकरी करते हैं। और दुःख दारिद्र्य तो सचमुच भारतवर्ष जैसा पृथ्वी पर

और कहीं नहीं है। मैला, कूड़ा-कर्कट तो चारों ओर पड़ा ही रहता है। यूरोपियनों की दृष्टि में इस मैले, इस दासवृत्ति, इस नीचता के बीच कुछ थोड़ा अच्छा होना भी सम्भव है, ऐसा विश्वास नहीं होता। हम देखते हैं वे शौच नहीं करते, आचमन नहीं करते, कुछ भी खा लेते हैं, कुछ भी विचार नहीं करते, शराब पीकर औरतों को बगल में लेकर नाचते हैं—हे भगवन्, इस जाति में भी क्या कुछ भलाई हो सकती है!

दोनों दृष्टियाँ बाह्य दृष्टियाँ हैं, भीतर की बात वे समझ ही नहीं सकतीं। हम विदेशियों को अपने समाज म मिलने नहीं देते और उन्हें म्लेच्छ कहते हैं। वे भी 'नेटिव स्लेव' कहकर हम से घृणा करते हैं।

हम दोनों के बीच में कुछ सत्य अवश्य है, किन्तु दोनों ही दल भीतर की असली बात नहीं देखते।

प्रत्येक मनुष्य में एक भाव विद्यमान रहता है; बाह्य मनुष्य उसी भाव का प्रकाश मात्र अर्थात् भाषा मात्र रहता है।

प्रत्येक जाति के विभिन्न जीवनोद्देश्य

इसी प्रकार प्रत्येक जाति में एक जातीय भाव है। यह भाव जगत् का कार्य करता है—संसार की स्थिति के लिए आवश्यक है। जिस दिन वह आवश्यकता भी चली जायगी, उसी दिन उस जाति अथवा व्यक्ति का नाश हो जायगा। इतने दुःख—दारिद्र्य में भी बाहर का उत्पात सहकर हम भारतवासी बचे हैं, इसका अर्थ यही है कि हमारा एक जातीय भाव है, जो इस समय भी जगत

के लिए आवश्यक है। यूरोपियनों में भी उसी प्रकार एक जातीय भाव है, जिसके न होने से संसार का काम नहीं चलेगा, इसीलिए वे प्रबल हैं; बिलकुल शक्तिहीन हो जाने से क्या मनुष्य बच सकता है? जाति तो व्यक्तियों की केवल समष्टि है। एकदम शक्तिहीन अथवा निष्कर्म होने से क्या जाति बची रहेगी? हजारों वर्ष के नाना प्रकार के हंगामों से जाति क्यों नहीं मरी? यदि हमारी रीतिनीति इतनी खराब होती, तो हम लोग इतने दिनों में नष्ट क्यों नहीं हो गये? विदेशी विजेताओं की चेष्टाओं में क्या त्रुटि रही है? तब भी सारे हिन्दू मरकर तबाह क्यों नहीं हो गये?—अन्यान्य असभ्य देशों में भी तो ऐसा ही हुआ है। भारतीय प्रदेश ऐसे मानवजन-विहीन क्यों नहीं हो गये कि विदेशी उसी समय यहाँ आकर खेती-बारी करने लगते, जैसा कि आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा आफ्रिका आदि में हुआ तथा हो रहा है? तब हे विदेशी, तुम अपने को जितना बलवान समझते हो वह केवल कल्पना ही है; भारत में भी बल है, सार है, इसे पहले समझ लो। और यह भी समझो कि अब भी हमारे पास जगत् के सभ्यता-भण्डार में जोड़ने के लिए कुछ है, इसीलिए हम बचे हैं। इसे तुम लोग भी अच्छी तरह समझ लो जो भीतर बाहर से साहब बने बैठे हो, तथा यह कहकर चिल्लाते घूमते हो 'हम लोग नरपशु हैं, हे यूरोपवासी, तुम्हीं हमारा उद्धार करो।' और यह कहकर धूम मचाते हो कि ईसू आकर भारत में बैठे हैं। अजी, यहाँ ईसू भी नहीं आये, जिहोवा भी नहीं आये और न आएंगे ही। वे इस समय अपना घर संभाल रहे हैं, हमारे देश में आने का उन्हें अवसर नहीं है। इस देश में वही बूढ़े शिवजी बैठे हैं, यहाँ कालीमाई बलि खाती हैं और

बंसीधारी बंसी बजाते हैं। यह बूढ़े शिव सांड़ पर सवार होकर भारतवर्ष से एक ओर सुमात्रा, बोर्नियो, सेलिबिस, आस्ट्रेलिया, अमेरिका के किनारे तक डमरू बजाते हुए एक समय घूमे थे; दूसरी ओर तिब्बत, चीन, जापान, साइबेरिया पर्यन्त बूढ़े शिव ने अपने बैल को चराया था और अब भी चराते हैं। यह वही महाकाली हैं जिनकी पूजा चीन जापान में भी होती है जिसे ईसू की माँ 'मेरी' समझ कर ईसाई भी पूजा करते हैं। यह जो हिमालय पहाड़ है उसके उत्तर में कैलाश है, वहाँ बूढ़े शिव का प्रधान अड्डा है। उस कैलाश को दस सिर और बीस हाथ वाला रावण भी नहीं नचा सका, फिर उसे नचाना क्या पादरी सादरी का काम है? वे बूढ़े शिव डमरू बजायेंगे, महाकाली बलि खायेंगी और श्री कृष्णजी बंसी बजायेंगे—यही इस देश में हमेशा होगा। यदि तुम्हें अच्छा नहीं लगता तो हट जाओ। तुम दो चार लोगों के लिये क्या सारे देश को अपना हाड़ जलाना होगा? इतनी बड़ी दुनिया तो पड़ी ही है, कहीं दूसरी जगह जाकर क्यों नहीं चरते? ऐसा तो कर ही नहीं सकोगे, साहस कहाँ है? इस बूढ़े शिव का अन्न खायेंगे, नमकहरामी करेंगे और ईसू की जय मनायेंगे; धिक्कार है ऐसे लोगों को, जो साहबों के सामने जाकर गिड़गिड़ाते हैं कि हम अति नीच हैं, हम बहुत क्षुद्र हैं, हमारा सब कुछ खराब है। पर हाँ, यह बात तुम्हारे लिए ठीक हो सकती है—तुम लोग अवश्य सत्यवादी हो; पर तुम 'अपने' भीतर सारे देश को क्यों जोड़ लेते हो? ऐ भगवन्, यह किस देश की सभ्यता है?

पहले यह समझना होगा कि ऐसा कोई गुण नहीं है जिस पर किसी जातिविशेष का एकाधिकार हो; तब जिस प्रकार एक व्यक्ति

में किसी किसी गुण की प्रधानता होती है वैसा ही जाति के सम्बन्ध में भी होता है।

प्राच्य का उद्देश्य मुक्ति और पाश्चात्य का धर्म

हमारे देश में मोक्षप्राप्ति की इच्छा प्रधान है, पाश्चात्य देश में धर्म की प्रधानता है। हम मुक्ति चाहते हैं, वे धर्म चाहते हैं। यहाँ 'धर्म' शब्द का व्यवहार मीमांसकों के अर्थ में हुआ है। धर्म क्या है? धर्म वही है जो इस लोक और परलोक में सुख-भोग की प्रवृत्ति दे। धर्म क्रियामूलक होता है। वह मनुष्य को रात दिन सुख के पीछे दौड़ाता है तथा सुख के लिए काम कराता है।

मोक्ष किसे कहते हैं? मोक्ष वह है जो यह सिखाता है कि इस लोक का सुख भी गुलामी है तथा परलोक का भी सुख वही है। इस प्रकृति के नियम के बाहर न तो यह लोक है और न परलोक ही। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे लोहे की जंजीर के स्थान पर सोने की जंजीर हो। फिर दूसरी बात यह है कि सुख, प्रकृति के नियमानुसार नाशवान है, वह अन्त तक नहीं ठहरेगा। अतएव मुक्ति की ही चेष्टा करनी चाहिए तथा मनुष्य को प्रकृति के बन्धन के परे जाना चाहिए, दासत्व में रहने से काम नहीं चलेगा। यह मोक्ष-मार्ग केवल भारतवर्ष में है, अन्यत्र नहीं। इसलिए जो आपने सुना है कि मुक्त पुरुष भारतवर्ष में ही हैं, अन्यत्र नहीं, वह ठीक ही है। परन्तु साथ ही साथ यह भी ठीक है कि आगे चलकर कभी दूसरे देशों में भी ऐसे लोग होंगे और हमारे लिए यह आनन्द का विषय है। भारतवर्ष में एक समय ऐसा था जब कि यहाँ धर्म और

मोक्ष का सामञ्जस्य था। उस समय यहाँ मोक्षाकांक्षी व्यास, शुक तथा सनकादि के साथ साथ धर्म के उपासक युधिष्ठिर, अर्जुन, दुर्योधन, भीष्म और कर्ण भी वर्तमान थे। बुद्धदेव के बाद धर्म एकदम अनादृत सा हो गया तथा केवल मोक्षमार्ग ही प्रधान बन गया। इसीलिए अग्निपुराण में रूपक के ब्याज से कहा गया है कि जब गयासुर (बुद्ध) + ने सभी को मोक्षमार्ग दिखलाकर जगत् का ध्वंस करने का उपक्रम किया था तब देवताओं ने आकर छल किया तथा उसे सदा के लिए शान्त कर दिया। सच बात तो यह है कि देश की दुर्गति, जिसकी चर्चा हम यत्र तत्र सुनते रहते हैं उसका कारण इसी धर्म का अभाव है। यदि देश के सभी लोग मोक्ष-धर्म का अनुशीलन करने लगें तब तो बहुत ही अच्छा हो, परन्तु वह तो होता नहीं, भोग न होने से त्याग नहीं होता, पहले भोग कीजिये, तब त्याग होगा। नहीं तो देश के सब लोग साधु हो गये, न इधर के रहे, और न उधर के। जिस समय बौद्ध राज्य में एक एक मठ में एक एक लाख साधु हो गये थे, उस समय देश ठीक नाश होने की ओर अग्रसर हुआ था। बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, जैन सभी का यह

+ गयासुर और बुद्धदेव के अभिन्नत्व के सम्बन्ध में स्वामीजी का विचार बाद में परिवर्तित हो गया था। उन्होंने देहत्याग के थोड़े दिन पूर्व काशीजी से अपने एक शिष्य को जो पत्र लिख भेजा था, उसमें एक स्थान पर यह लिखा था—

"अग्निपुराण में गयासुर का जो उल्लेख है, उसमें (जैसा डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र का मत है) बुद्धदेव की ओर लक्ष्य नहीं किया गया है। वह पूर्व से प्रचलित सिर्फ एक किस्सा मात्र है। बुद्ध जिस गयाशीर्ष पर्वत पर वास करने गये थे, उससे यह स्थान पूर्व था ऐसा प्रमाणित हुआ है।"

(उद्बोधन, अष्टम वर्ष, पृष्ठ ५८८)

एक भ्रम है कि सभी के लिए एक कानून और एक नियम है। यह बिलकुल गलत है; जाति और व्यक्ति के प्रकृति-भेद से शिक्षा-व्यवहार के नियम सभी अलग अलग हैं, बलपूर्वक उन्हें एक करने से क्या होगा! बौद्ध कहते हैं, मोक्ष के सदृश और क्या है: सब दुनिया मुक्ति-प्राप्ति की चेष्टा करे, तो क्या कभी ऐसा हो सकता है? तुम गृहस्थ हो, तुम्हारे लिए वे सब बातें बहुत आवश्यक नहीं हैं, तुम अपने धर्म का आचरण करो, हिन्दू-शास्त्र यही कहते हैं। एक हाथ भी नहीं लांघ सकते, लंका कैसे पार करियेगा। क्या यह ठीक है? दो मनुष्य का तो पेट भर नहीं सकते, दो आदमियों के साथ राय मिलाकर एक साधारण हितकर काम नहीं कर सकते, पर मोक्ष लेने अवश्य दौड़ते हैं! हिन्दूशास्त्र कहते हैं कि धर्म की अपेक्षा मोक्ष अवश्य ही बहुत बड़ा है, किन्तु पहले धर्म करना होगा। बौद्धों ने इसी स्थान पर भ्रम में पड़कर अनेक उत्पात खड़े कर दिये। अहिंसा ठीक है, निश्चय बड़ी बात है, कहने में बात तो अच्छी है, पर शास्त्र कहते हैं, तुम गृहस्थ हो, तुम्हारे गाल पर यदि कोई एक थप्पड़ मारे, और यदि उसका जबाब तुम दस थप्पड़ों से न दो, तो तुम पाप करते हो। 'आततायिनमायान्तम्' × इत्यादि, हत्या करने के लिए यदि कोई आवे तो ऐसा ब्रह्मवध भी पाप नहीं है, ऐसा मनुस्मृति में लिखा है। यह ठीक बात है, इसे भूलना न

× गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ मनु० ८।३५०

आततायी कौन है—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैतान् षड् विद्यादाततायिनः॥ —शुक्रनीति

चाहिये। वीरभोग्या वसुन्धरा—वीर्य प्रकाशित कीजिये, साम दाम दण्ड भेद की नीति को प्रकाशित कीजिये, पृथ्वी का भोग कीजिये, तब आप धार्मिक होंगे। और गाली गलौज सहकर चुपचाप घृणित जीवन बिताने से यहाँ नरक भोगना होगा और परलोक में भी वही होगा। यही शास्त्र का मत है। सबसे ठीक बात यह है कि स्वधर्म का अनुष्ठान करो। अन्याय मत करो, अत्याचार मत करो, यथासाध्य परोपकार करो। किन्तु गृहस्थ के लिए अन्याय सहना पाप है, उसी समय उसका बदला चुकाने की चेष्टा करनी होगी। बड़े उत्साह के साथ अर्थोपार्जन कर स्त्री तथा परिवार के दस प्राणियों का पालन, दस हितकर बातें करनी होंगी। ऐसा न कर सकने पर तुम मनुष्य कैसे होगे? जब तुम गृहस्थ ही नहीं हो तो फिर मोक्ष की तो बात ही क्या!!

पहले ही कह चुका हूँ कि धर्म कार्यमूलक है। धार्मिक व्यक्ति का लक्षण है—सदा कर्मशीलता। इतना ही क्या, अनेक मीमांसकों धर्मानुष्ठान में का मत है कि वेद के जिस प्रसंग में कार्य करने चित्तशुद्धि के लिए नहीं कहा गया है वह प्रसंग वेद का अंग ही नहीं है।

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्।'

—जैमिनीसूत्र, १।२।१

'ॐ कार का ध्यान करने से सब कामों की सिद्धि होती है, हरिनाम का जप करने से सब पापों का नाश होता है, शरणागत होने पर सब पापों का नाश होता है," शास्त्र की ये सारी अच्छी

बातें सत्य अवश्य हैं, किन्तु देखा जाता है कि लाखों मनुष्य ॐ कार का जप करते हैं, हरिनाम लेने में पागल हो जाते हैं, रात दिन 'प्रभु जो करे' ही कहते रहते हैं पर उन्हें मिलता क्या है? तब समझना होगा कि किसका जप यथार्थ है? किसके मुँह में हरिनाम वज्रवत् अमोघ है? कौन सचमुच शरण में जा सकता है? कर्म करके ही जिसकी चित्तशुद्धि होती है वही पुरुष धार्मिक है।

प्रत्येक जीव के शक्ति-प्रकाश का एक-एक केन्द्र है। पूर्व कर्मफल से जो शक्ति संचित हुई है, उसी को लेकर हम लोग जन्मे हैं। जब तक वह शक्ति कार्यरूप में प्रकाशित नहीं होती, तब तक कहो तो कौन स्थिर रहेगा, कौन भोग का नाश करेगा? तब दुःखभोग की अपेक्षा क्या सुखभोग अच्छा नहीं? कुकर्म की अपेक्षा क्या सुकर्म अच्छा नहीं? पूज्यपाद श्रीरामप्रसाद* ने कहा है, 'अच्छी और बुरी' दो बातें हैं।

अब 'अच्छा' क्या है? मुक्ति चाहने वालों का 'अच्छा' एक प्रकार का है और धर्म चाहने वालों का 'अच्छा' दूसरे प्रकार का। गीता का मुमुक्षु और उपदेश देने वाले भगवान् ने इसे बड़ी अच्छी तरह धर्मेच्छु के आदर्श समझाया है; इसी महासत्य के ऊपर हिन्दुओं का की विभिन्नता। स्वधर्म और जाति-धर्म आदि निर्भर है।

---

* श्रीरामप्रसाद बंगाल के एक बड़े साधु थे। वे काली के परम भक्त और अच्छे कवि थे। उन्होंने काली की प्रशंसा में बहुत सी कवितायें बनाई हैं, जिनमें धर्म के गूढ़तम सिद्धान्त बड़ी सरलता से समझाये गये हैं। उनकी कवितायें इतनी लोकप्रिय, सजीव और भक्तिपूर्ण हैं कि बंगाल के एक छोटे किसान से लेकर बड़े बड़े विद्वान तक के हृदय में उन कविताओं के पाठ से आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ता है।

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।'--गीता, १२।१३

इत्यादि भगवद्वाक्य मुमुक्षुओं के लिए हैं । और—

'क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ'—गीता, २।३

'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व'—गीता, ११।३३

इत्यादि धर्मप्राप्ति का मार्ग भगवान् ने दिखा दिया है । अवश्य ही काम करने पर कुछ न कुछ पाप होगा ही । मान लीजिये कि पाप हुआ ही, तो क्या उपवास की अपेक्षा आधा पेट खाना अच्छा नहीं है ? गाय झूठ नहीं बोलती, दीवाल चोरी नहीं करती, पर फिर भी वे गाय और दीवाल ही रह जाती हैं । मनुष्य चोरी करता है, झूठ बोलता है, फिर भी वह मनुष्य देवता हो जाता है । जिस अवस्था में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, उस अवस्था में मनुष्य निष्क्रिय हो जाता है तथा परम ध्यानावस्था को प्राप्त होता है । जिस अवस्था में रजोगुण की प्रधानता होती है, उस अवस्था में वह अच्छे बुरे काम करता है तथा जिस अवस्था में तमोगुण की प्रधानता होती है, उस अवस्था में फिर वह निष्क्रिय, जड़ हो जाता है । कहो तो बाहर से यह कैसे जाना जा सकता है कि सत्त्वगुण की प्रधानता हुई है अथवा तमोगुण की ? सुख दुःख से परे हम क्रियाहीन, शान्त, सात्त्विक अवस्था में हैं अथवा शक्ति के अभाव से प्राणहीन, जड़वत् क्रियाहीन, महातामसिक अवस्था में पड़े हुए धीरे धीरे चुपचाप सड़ रहे हैं ? इस प्रश्न का उत्तर दीजिये और अपने मन से पूछिये । इसका उत्तर ही क्या होगा ? बस, 'फलेन परिचीयते ।' सत्त्व की प्रधानता में मनुष्य निष्क्रिय होता है, शान्त होता है, पर वह निष्क्रियत्व

महाशक्ति के केन्द्रीभूत होने से होता है, वह शान्ति महावीर्य की जननी है। उस महापुरुष को फिर हम लोगों की तरह हाथ पाँव डुलाकर काम नहीं करना पड़ता। केवल इच्छा होने से ही सारे काम सम्पूर्ण रूप से सम्पन्न हो जाते हैं। वह पुरुष सत्वगुण-प्रधान ब्राह्मण है, सबका पूज्य है। 'मेरी पूजा करो' ऐसा कहते हुए क्या उसे दरवाज़े दरवाज़े घूमना पड़ता है? जगदम्बा उसके ललाट पर अपने हाथ से लिख देती है कि 'इस महा-पुरुष की सब लोग पूजा करो' और जगत् सिर नीचा करके इसे मान लेता है। वही व्यक्ति सचमुच 'मनुष्य' है।

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।'

और वे जो नाक भौं सिकोड़कर पिनपिनाते किटकिटाते हुए बातें करते हैं, सात दिन के उपासे गिरगिट की तरह जिनकी म्यूँ म्यूँ आवाज़ होती है, जो फटे पुराने चिथड़े की तरह हैं, जो सौ सौ जूते खाने पर भी सिर नहीं उठाते, उन्हीं में निम्नतम श्रेणी का तमोगुण प्रकाशित होता है। यही मृत्यु का चिह्न है। वह सत्वगुण नहीं, सड़ी दुर्गंध है। अर्जुन भी इस अवस्था को प्राप्त हो रहे थे। इसीलिए तो भगवान् ने इतने विस्तृत रूप से गीता का उपदेश दिया। देखो तो भगवान् के श्रीमुख से पहली कौन सी बात निकली—

'क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।'

और अन्त में—

'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व'

जैन, बौद्ध आदि के फेरे में पड़कर हमलोग तामसिक लोगों का अनुसरण कर रहे हैं। पिछले हजार वर्ष से सारा देश हरिनाम की ध्वनि से नभमण्डल को परिपूर्ण कर रहा है, पर परमात्मा उस ओर कान ही नहीं देता। वह सुने भी क्यों? जब मनुष्य ही बेवकूफों की बात नहीं सुनता तो वह तो भगवान् है। अब गीता में कहे हुए भगवान् के वाक्यों को सुनना ही कर्तव्य है—

'क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ' और
'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व।'

अब प्राच्य और पाश्चात्य की ओर आइये। पहले ही एक दुर्भाग्य की ओर ध्यान दीजिये। यूरोपवासियों के देवता ईसू उपदेश देते हैं कि किसी से वैर मत करो, यदि कोई तुम्हारे बायें गाल पर चपत मारे तो उसके सामने दाहिना गाल भी घुमा दो, सारे काम काज छोड़कर परलोक में जाने के लिए तैयार हो जाओ, कारण दुनिया दो ही चार दिन में नष्ट हो जायगी। और हमारे इष्टदेव ने उपदेश दिया है कि खूब उत्साह से काम करो, शत्रु का नाश करो और दुनिया का भोग करो। किन्तु सब उलटा पुलटा हो गया है। यूरोपियनों ने ईसू की बात नहीं मानी। सदा महारजोगुणी, महाकार्यशील होकर बहुत उत्साह से देश-देशान्तरों के भोग और सुख का आनन्द लूटते हैं और हम लोग गठरी मोटरी बाँधकर एक कोने में बैठ रातदिन मृत्यु का ही आवाहन करते हैं और गाते रहते हैं—

प्राच्य जाति ईसू और पाश्चात्य जाति कृष्ण के उपदेश का अनुसरण करती है।

'नलिनीदलगतजलमतितरलं तद्वज्जीवनमतिशयचपलम् ।'*

अर्थात् कमल के पत्ते पर पड़ा हुआ जल जितना तरल है हमारा जीवन भी उतना ही चपल है। यम के भय से हमारी धमनियों का रक्त ठंडा पड़ जाता है और सारा शरीर काँपने लगता है। इसी से यम को भी हम पर क्रोध हो गया है और उसने दुनिया भर के रोग हमारे देश में घुसा दिये हैं। गीता का उपदेश कहो किसने सुना? यूरोपियनों ने! ईसू की इच्छा के अनुसार कौन काम करता है? श्रीकृष्ण के वंशज! इसे अच्छी तरह समझना होगा। मोक्षमार्ग का सर्वप्रथम उपदेश तो वेदों ने ही दिया था। उसके बाद बुद्ध को ही लीजिये या ईसू को ही, सभी ने उसीमें से लिया है। वे संन्यासी थे, इसलिए उनके कोई शत्रु नहीं थे और वे सबसे प्रेम करते थे—

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।'

यही उन लोगों के लिए अच्छी बात थी। किन्तु बलपूर्वक सारी दुनिया को उस मोक्षमार्ग की ओर खींच ले जाने की चेष्टा किस लिए? क्या घिसने रगड़ने से सुन्दरता और धरने पकड़ने से कभी प्रेम होता है? जो मनुष्य मोक्ष नहीं चाहता, पाने के उपयुक्त भी नहीं है, उसके लिए कहो तो बुद्ध या ईसू ने क्या उपदेश दिया है? —कुछ भी नहीं। या तो तुम्हें मोक्ष मिलेगा या तुम्हारा सत्यानाश होगा, बस यही दो बातें हैं। मोक्ष के अतिरिक्त और सारी चेष्टाओं के मार्ग बन्द हैं। इस दुनिया का थोड़ा आनन्द लेने के लिए तुम्हारे लिए

* श्रीशंकराचार्यकृत 'मोहमुद्गर'—५

कोई रास्ता ही नहीं है और कदम कदम पर आपद-विपद है। केवल वैदिक धर्म में ही इन चारों वर्गों के साधन का उपाय है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। बुद्ध ने हमारा सर्वनाश किया और ईसू ने ग्रीस और रोम का सर्वनाश किया। इसके बाद भाग्यवश यूरोपवासी प्रोटेस्टेण्ट (Protestant) हो गये। उन लोगों ने ईसू के धर्म को छोड़ दिया और एक गम्भीर सांस लेकर सन्तोष प्रकट किया। भारतवर्ष में कुमारिल ने फिर कर्ममार्ग चलाया। शंकर, रामानुज ने चारों वर्गों के समन्वय स्वरूप वैदिक धर्म का फिर प्रवर्तन किया। फिर देश के बचने का उपाय हुआ। तब कहीं भारतवर्ष के तीस करोड़ लोगों का जागरण आवश्यक हुआ, इसीलिए देर हुई। क्या तीस करोड़ लोगों को चैतन्य एक दिन में हो सकता है?

बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म का उद्देश्य एक ही है। पर बौद्ध के उपाय ठीक नहीं हैं। यदि उपाय ठीक होता तो हमारा यह सर्वनाश कैसे होता? 'समय ने सब कराया' क्या यह कहने से काम चल सकता है? समय क्या कार्य-कारण के सम्बन्ध को छोड़कर काम कर सकेगा?

अतएव उद्देश्य एक होने पर भी उचित उपायों के अभाव के कारण बौद्धों ने भारतवर्ष को रसातल में पहुँचा दिया। ऐसा कहने से सम्भवतः हमारे बौद्ध मित्रों को बुरा मालूम पड़ेगा, पर मैं लाचार हूँ, सत्य बात कही ही जायगी, परिणाम चाहे जो हो। वैदिक उपाय ही उचित और ठीक हैं। जाति-धर्म और स्वधर्म ही वैदिक धर्म और वैदिक समाज की भित्ति है। फिर मैं सम्भवतः अनेक मित्रों को

कुपित कर रहा हूँ, जो कहते हैं कि इस देश के लोगों की खुशामद की जा रही है। इन लोगों से मैं एक बात पूछना चाहता हूँ कि इस देश के लोगों की खुशामद करके मुझे क्या लाभ होगा? यदि भूखों मर जाऊँ तो देश के लोग खाने के लिए एक मुट्ठी अन्न भी नहीं देंगे, उल्टे विदेशों से अकाल-पीड़ितों और अनाथों को खिलाने के लिए मैं जो माँग-जाँचकर लाया हूँ, उसे भी वे हड़पने का यत्न करते हैं। यदि वे उसे नहीं पाते तो गालीगलौज करते हैं! ऐ हमारे शिक्षित देशबन्धुओ, हमारे देश के लोग तो ऐसे ही हैं, फिर उनकी क्या खुशामद करें? उनकी खुशामद से क्या मिलता है? उन्हें उन्माद हुआ है। पागलों को जो दवा खिलाने जायगा, उसे वे दो चार लप्पड़ थप्पड़ देंगे ही। पर उन्हें सहकर भी जो उन्हें दवा खिलाता है, वही उनका सच्चा मित्र है।

यही 'जातीय धर्म,' स्वधर्म' ही सब देशों की सामाजिक उन्नति का उपाय तथा मुक्ति का सोपान है। इस जातिधर्म और स्वधर्म के नाश के साथ ही देश का अधःपतन होता है। किन्तु साधारणतः जातिधर्म, स्वधर्म का जो अर्थ समझा जा रहा है वह केवल उल्टा उत्पात है, उससे देश की रक्षा करनी होगी। ऊँची जाति वाले समझते हैं कि वे जातिधर्म के बारे में सब कुछ जानते हैं, पर वे खाक पत्थर जानते हैं। अपने गांव के आचार को ही वे सनातन वैदिक आचार समझते हैं और सब अधिकारों को अपनी ही ओर खींचकर उत्सन्न होते जा रहे हैं। मैं गुणगत जाति की बात न कहकर वंशगत—जन्मगत जाति की ही

स्वधर्म की रक्षा ही जातीय कल्याण का उपाय है।

बातें कह रहा हूँ। यह मैं मानता हूँ कि गुणगत जाति ही पुरातन है; किन्तु दो चार पीढ़ियों में गुण ही वंशगत हो जाते हैं। आक्रमण इसी खास चीज़ पर हुआ है, अन्यथा यह सर्वनाश कैसे हुआ ?

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥—गीता, ३।२४

अर्थात् मैं ही वर्णसंकरों को करने वाला और इतने प्राणियों को नाश करने वाला बनूँगा। यह घोर वर्णसंकरता कैसे हो गई ? सफेद रंग काला कैसे हुआ ? सत्त्वगुण, रजोगुणप्रधान तमोगुण, कैसे हो गया ?—आदि आदि बातें किसी दूसरे प्रसंग में कही जायँगी। इस समय यही समझने की चीज़ है कि यदि जातिधर्म ठीक रहे तो देश का अधःपतन नहीं होगा। यदि यह बात सत्य है तो फिर हमारा अधःपतन कैसे हुआ ? अवश्य ही जातिधर्म उत्पन्न हो गया है। अतएव जिसे आपलोग जातिधर्म कहते हैं वह ठीक उसका उल्टा है। पहले अपने पुराण और शास्त्रों को अच्छी तरह पढ़िये, तब समझ में आयेगा कि शास्त्रों में जिसे जातिधर्म कहा गया है उसका सर्वथा लोप हो गया है। तब वह फिर कैसे आएगा, इसीकी चेष्टा कीजिये। ऐसा होने ही से परम कल्याण निश्चित है। मैंने जो कुछ सीखा या समझा है वही आपसे स्पष्ट कह रहा हूँ। मेरी यह धारणा नहीं है कि मैं आप लोगों के कल्याण के लिए विदेश से आया हूँ जिससे कि आप लोगों की बुरी रीति-नीतियों तक की हमें वैज्ञानिक व्याख्या करनी होगी। विदेशी बन्धुओं को क्या ? थोड़ी वाहवाह ही उनके लिए यथेष्ट है। आप लोगों के मुँह में कालिख पोती जाने से उस का दाग मेरे मुँह पर भी लगता है, इसका क्या होगा ?

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि प्रत्येक जाति का एक जातीय उद्देश्य है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार या महापुरुषों की प्रतिभा के बल से प्रत्येक जाति की रीति-नीति उस उद्देश्य को सफल करने के लिए उपयोगी है। प्रत्येक जाति के जीवन में इस उद्देश्य एवं उसके उपयोगी उपाय स्वरूप आचार को छोड़कर और सब रीतिनीति व्यर्थ है। इन व्यर्थ की रीतिनीतियों के ह्रास या वृद्धि से कुछ विशेष बनता बिगड़ता नहीं। यदि उस प्रधान उद्देश्य पर आघात होता है तो वह जाति नष्ट हो जाती है।

आप लोगों ने अपनी बाल्यावस्था में एक किस्सा सुना होगा कि एक राक्षसी का प्राण एक पक्षी में था। उस पक्षी का नाश हुए बिना किसी भी प्रकार उस राक्षसी का नाश नहीं हो सकता था। यह भी ठीक वैसा ही है। अब आप देखेंगे कि जो अधिकार जातीय जीवन के लिए सर्वथा आवश्यक नहीं हैं, वे सब अधिकार नष्ट ही क्यों न हो जायँ, वह जाति इस पर कोई आपत्ति नहीं करेगी। किन्तु जिस समय यथार्थ जातीय जीवन पर आघात होता है उसी समय वह बड़े वेग से प्रतिघात करती है।

फ्रांसीसी, अंग्रेज और हिन्दुओं के दृष्टान्त से उक्त तत्व का समर्थन।

तीन वर्तमान जातियों की तुलना कीजिये, जिनका इतिहास आप थोड़ा बहुत जानते हैं—वे हैं फ्रांसीसी, अंग्रेज और हिन्दू। राजनीतिक स्वाधीनता फ्रांसीसी जातीय चरित्र का मेरुदण्ड है। फ्रांसीसी प्रजा सब अत्याचारों को शान्त भाव से सहन करती है। करों के भार से पीस डालिये, फिर भी वह चूं तक न करेगी। सारे

देश को जबरदस्ती सेना में भर्ती कर डालिये, पर कोई आपत्ति न की जायगी। किन्तु जब कोई उनकी स्वाधीनता के ऊपर हाथ डालता है, तब सारी जाति पागलों की तरह प्रतिघात करने लगती है। कोई व्यक्ति किसी के ऊपर जबरदस्ती अपना हुक्म नहीं चला सकता, यही फ्रांसीसियों के चरित्र का मूलमन्त्र है। ज्ञानी, मूर्ख धनी दरिद्र, उच्च वंशीय, नीच वंशज सभी को राज्य के शासन और सामाजिक स्वाधीनता में समान अधिकार है। इसके ऊपर हाथ डालने वाले को ही इसका फल भोगना होगा।

अंग्रेजों के चरित्र में व्यवसाय बुद्धि तथा आदान-प्रदान की प्रधानता है। अंग्रेजों की आवश्यकीय विशेषता है समान भाग, न्यायविभाग। अंग्रेज, राजा और कुलीन जाति के अधिकार को नत मस्तक होकर स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु यदि गाँठ में से पैसा बाहर करना हो तो वे हिसाब माँगते हैं। राजा है तो अच्छी बात है, उसका लोग आदर करेंगे, किन्तु यदि राजा रुपया चाहे तो उसकी आवश्यकता और प्रयोजन के सम्बन्ध में हिसाब किताब समझा—बूझा जायगा, कहीं तब देने की बारी आएगी। राजा ने बलपूर्वक रुपया इकट्ठा करने की इच्छा से वहाँ विप्लव खड़ा कर दिया, उन लोगों ने राजा को मार डाला।

हिन्दू कहते हैं कि राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनता बहुत अच्छी चीज़ है, किन्तु वास्तविक चीज़ आध्यात्मिक स्वाधीनता अर्थात् मुक्ति है। यही जातीय जीवन का उद्देश्य है। वैदिक, जैन, बौद्ध, द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत सभी इस सम्बन्ध में एकमत

हैं। इसमें हाथ न लगाना—नहीं तो सर्वनाश हो जायगा। इसे छोड़कर और चाहे जो कुछ करो, हिन्दू चुप रहेंगे। लाठी मारो, काला कहो, सर्वस्व छीन लो, इससे होता कुछ नहीं। किन्तु इसी दरवाजे को छोड़ दो। यही देखो वर्तमानकाल में पठान लोग आते जाते थे, कोई स्थिर होकर राज्य नहीं कर सका, क्योंकि हिन्दूओं के धर्म पर वे बराबर आघात करते रहे। परन्तु दूसरी ओर मुगल राज्य किस प्रकार सुदृढ़ प्रतिष्ठित तथा बलशाली हुआ—कारण यही है कि मुगलों ने इस स्थान पर आघात नहीं किया। हिन्दू ही तो मुगलों के सिंहासन के आधार थे। जहांगीर, शाहजहां, दारा शिकोह आदि सभी की माताएँ हिन्दू थीं। और देखो ज्योंही भाग्यहीन औरंगजेब ने उस स्थान पर आघात किया त्योंही इतना बड़ा मुगल राज्य स्वप्न की तरह हवा हो गया। अंग्रेजों का यह सुदृढ़ सिंहासन किस चीज़ के ऊपर प्रतिष्ठित है? कारण यही है कि किसी भी अवस्था में अंग्रेज उस धर्म के ऊपर हस्तक्षेप नहीं करते। पादरी पुंगवों ने थोड़ा बहुत हाथ डालकर ही तो सन् १८५७ में हंगामा उपस्थित किया था। अंग्रेज जब तक इसको अच्छी तरह समझते तथा इसका पालन करते रहेंगे तब तक उनका राज्य कई पीढ़ियों तक सम्भव है बना रहे। विज्ञ बहुदर्शी अंग्रेज भी इस बात को समझते हैं। लार्ड राबर्ट्स की 'भारतवर्ष में ४१ वर्ष' नामक पुस्तक पढ़ देखिये।

अब आप समझ सकते हैं कि उस राक्षसी का प्राणपखेरू कहाँ है? वह धर्म में है। उसका नाश कोई नहीं कर सका, इसीलिए इतनी आपद विपद को झेलते हुए भी हिन्दू जाति अभी तक बची है। अच्छा, एक भारतीय विद्वान् ने पूछा कि इसी राष्ट्र के प्राण को

धर्म में रखने की क्या आवश्यकता है? उसे सामाजिक या राजनीतिक स्वतंत्रता में क्यों न रखा जाय, जैसा दूसरे राष्ट्रों के साथ होता है। ऐसी बात कहना तो बड़ा सरल है। यदि तर्क करने के लिए यह मान लें कि धर्म-कर्म सब मिथ्या झूठ हैं, तो क्या होगा, इस पर विचार कीजिये। अग्नि तो एक ही होती है, पर प्रकाश विभिन्न होता है। उसी एक महाशक्ति का फ्रांसीसियों में राजनैतिक स्वाधीनता के रूप में, अंग्रेजों में वाणिज्य-विस्तार के रूप में, और हिन्दुओं के हृदय में मुक्ति-लाभ की इच्छा के रूप में विकास हुआ है। किन्तु इसी महा-शक्ति की प्रेरणा से कई शताब्दियों से नाना प्रकार के सुख-दुःखों को झेलते हुए फ्रांसीसी और अंग्रेजी चरित्र गठित हुआ है और उसी की प्रेरणा से लाखों शताब्दियों के आवर्तन में हिन्दुओं के जातीय चरित्र का विकास हुआ है। अब मैं जानना चाहता हूँ कि लाखों वर्ष के हमारे स्वभाव को छोड़ना सरल है अथवा सौ पचास वर्ष के आप के विदेशी स्वभाव को छोड़ना? अंग्रेज मारकाट आदि को भूलकर शान्त शिष्ट बन धर्मप्राण क्यों नहीं हो जाते?

वास्तविक बात यह है कि जो नदी पहाड़ से एक हजार कोस नीचे उतर आई हो, वह क्या फिर पहाड़ पर जायगी या जा सकेगी? धर्म के अलावा यदि वह जाने की चेष्टा भी करे तो परिणाम यही और किसी दूसरी होगा कि इधर उधर जाकर वह सूख जायगी। चीज से भारत के वह नदी चाहे जैसी हो समुद्र में जायगी ही, चाहे जातीय जीवन की दो दिन पहले या दो दिन बाद, दो अच्छी जगहों में प्रतिष्ठा असम्भव है। होकर अथवा दो गन्दी जगहों से गुजरकर। यदि हमारे इस दस हजार वर्ष के जातीय जीवन में भूल हुई तो इस

समय अब तो और कोई उपाय है ही नहीं। इस समय यदि नये चरित्र का गठन किया जाय तो मृत्यु की ही सम्भावना है।

मुझे क्षमा कीजिये, यदि हम यह कहें कि यह सोचना कि हमारे राष्ट्रीय आदर्श में भूल रही है, निरी मूर्खता है। पहले अन्य देशों में जाइये—अपनी आँखों से देखकर, दूसरों की आँखों के सहारे नहीं—उनकी अवस्था और रहन-सहन का अध्ययन कीजिये। और यदि मस्तिष्क हो तो उन पर विचार कीजिये, फिर अपने शास्त्रों और पुराने साहित्य को पढ़िये और समस्त भारत की यात्रा कीजिये तथा विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले अधिवासियों के चालचलन, आचार-विचार का विस्तीर्ण दृष्टि और उन्नत मस्तिष्क से—बेवकूफों की तरह नहीं—विचार कीजिये; तब समझ सकियेगा कि जाति अभी भी जीवित है, धुकधुकी चल रही है, केवल बेहोश हो गई है। और देखो कि इस देश का प्राण धर्म है, भाषा धर्म है तथा भाव धर्म है। आपकी राजनीति, समाजनीति, रास्ते की सफाई, प्लेग-निवारण, दुर्भिक्ष-पीड़ितों को अन्न दान आदि आदि चिरकाल से इस देश में जैसे हुआ है वैसे ही होगा—अर्थात् धर्म के द्वारा यदि होगा तो होगा, अन्यथा नहीं। आपके रोने चिल्लाने का कुछ भी असर न होगा।

शक्तिमान पुरुष ही सब समाजों का परिचालक है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश में एक ही नियम है, वह यह कि थोड़े से शक्तिमान मनुष्य जो करते हैं वही होता है। बाकी लोग केवल भेड़ियाधसान का ही अनुकरण करते हैं। मेरे मित्रो! मैंने तुम्हारी पार्लियामेन्ट (Parliament), सेनेट (Senate), वोट (Vote), मेजारटी (Majority), बैलट (Ballot)

आदि सब देखा है, शक्तिमान पुरुष जिस ओर चलने की इच्छा करते हैं समाज को उसी ओर चलाते हैं, बाकी लोग भेड़ों की तरह उनका अनुकरण करते हैं। तो भारतवर्ष में कौन शक्तिमान पुरुष है? वे ही जो धर्मवीर हैं, वे ही हमारे समाज को चलाते हैं, वे ही समाज की रीति-नीति में परिवर्तन की आवश्यकता होने पर उसे बदल देते है। हम चुपचाप सुनते हैं और उसे मानते हैं। हममें और आप में भिन्नता केवल इतनी ही है कि हमारे पास उक्त मेजारटी आदि का हंगामा नहीं है, जैसा द्वन्द्व दूसरे देशों में है।

वोट, बैलट आदि द्वारा अवश्य ही प्रजा को एक प्रकार की जो शिक्षा मिलती है उसे हम नहीं दे सकते; किन्तु राजनीति के नाम पर चोरों का जो दल देशवासियों का रक्त चूसकर समस्त यूरोपीय देशों का नाश करता है और स्वयं मोटा ताज़ा बनता है, वह भी हमारे देश में नहीं है। घूस की वह धूम, वह दिन दहाड़े लूट जो पाश्चात्य देशों में होती है, यदि भारतवर्ष में दिखाई पड़े तो हताश होना पड़ेगा।

पाश्चात्य देशों में राजनीति के नाम पर दिन में लूट।

घर की जोरू बर्तन माँजे, गणिका लड्डू खाय।
गली गली है गोरस फिरता मदिरा बैठि बिकाय।

जिनके हाथ में रुपया है, वे राज्य शासन को अपनी मुट्ठी में रखते हैं, प्रजा को लूटते हैं और उसको चूसते हैं, उसके बाद उन्हें सिपाही बनाकर देश-देशान्तरों में मरने के लिए भेज देते हैं, जीत होने पर उन्हींका घर धन धान्य से भरा जायगा, किन्तु प्रजा तो उसी जगह मार डाली गई! मेरे मित्रो! आप घबड़ाइये नहीं, आश्चर्य भी मत प्रकट कीजिये!

एक बात पर विचार कर देखिये, मनुष्य नियमों को बनाता है या नियम मनुष्यों को बनाते हैं ? मनुष्य रुपया पैदा करता है या रुपया मनुष्यों को पैदा करता है ? मनुष्य कीर्ति और नाम पैदा करता है या कीर्ति और नाम मनुष्य पैदा करते हैं ?

मेरे मित्रो ! पहले मनुष्य बनिये, तब आप देखेंगे कि वे सब बाकी चीज़ें स्वयं आपका अनुसरण करेंगी। परस्पर के घृणित द्वेषभाव को छोड़िये और सदुद्देश्य, सदुपाय, सत्साहस एवं सद्वीर्य का अवलम्बन कीजिये। आपने मनुष्य योनि में जन्म लिया है तो अपनी कीर्ति यहाँ ही छोड़ जाइये।

मनुष्य बनिये।

तुलसी आयो जगत् में, जगत् हँसै तुम रोय।
ऐसी करनी कर चलो, आप हँस जग रोय॥

अगर ऐसा कर सको तब तो तुम मनुष्य हो, अन्यथा तुम कैसे मनुष्य हो ?

मेरे मित्रो ! एक बात आपको और समझ लेनी चाहिये। हमें अवश्य ही अन्यान्य जातियों से बहुत कुछ सीखना है। जो मनुष्य कहता है कि हमें कुछ नहीं सीखना है वह मरने के लिए तैयार है। जो जाति कहती है कि हम सर्वज्ञ हैं उसकी अवनति के दिन बहुत निकट है! जितने दिन जीना है उतने दिन सीखना है। पर यह एक बात अवश्य ध्यान में रख लेने की है कि जो कुछ सीखना है उसे अपने साँचे में ढाल लेना है। अपने असल तत्व को सदा बचाकर फिर बाकी चीज़ें सीखनी होंगी! खाना तो सब देशों

पाश्चात्य जाति के गुणों को साँचे में ढालकर लेना होगा।

में एक ही है, पर हम पैर समेट कर खाते हैं और यूरोपीय पैर लटकाकर खाते हैं। अब मान लो कि मैं उन्हीं की तरह खाना खाता हूँ, तो क्या मुझे भी उन्हीं की तरह टाँग लटकाकर बैठना पड़ेगा ? ऐसा होने से तो निश्चय ही मेरी टाँग यम के गृह की ओर प्रस्थान करेगी ! इस दुःख में जो प्राण जायगा, उसका क्या होगा ? इसलिए हमें उनका भोजन पैर समेटकर ही खाना होगा। इसी प्रकार जो कुछ भी विदेशी बातें सीखनी होंगी, उन्हें अपनी बनाकर—पैर समेटकर—अपने वास्तविक जातीय चरित्र की रक्षा कर, तब सीखनी होंगी। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या कपड़ा मनुष्य हो जाता है अथवा मनुष्य कपड़ा पहनता है ? शक्तिमान पुरुष चाहे जैसी ही पोशाक क्यों न पहने, लोग उसका आदर करेंगे, पर मेरे जैसे अहमक को एक मोट, धोबी का कपड़ा लेकर फिरने पर भी कोई नहीं पूछता।

अब यह भूमिका बहुत बड़ी हो गई। पर इसे पढ़ लेने से दोनों जातियों की तुलना करना सरल हो जायगा। वे भी अच्छे हैं और हम भी अच्छे हैं। "काको बन्दौ, काको निन्दौ, दोनों पल्ला भारी।" हाँ, यह अवश्य है कि भले की भी श्रेणियाँ हैं।

हमारे विचार से तीन चीज़ों से मनुष्य का संगठन होता है—शरीर, मन और आत्मा। पहले शरीर की बात लीजिये जो सबसे बाहरी चीज़ है।

देखिये, शरीर में कितना भेद है—नाक, मुँह, गढ़न, लम्बाई चौड़ाई, रंग, केश आदि में कितनी विभिन्नताएँ हैं।

आधुनिक पण्डितों का विचार है कि रंग की भिन्नता वर्णसंकरता से उपस्थित होती है। गर्म देश और ठंडे देश के भेद से कुछ भिन्नता जरूर होती है; किन्तु काले और गोरे का असली कारण पैतृक है। बहुत ठण्डे देशों में भी काले रंग की जातियाँ देखी जाती हैं एवं अत्यन्त उष्ण प्रदेश में भी खूब गोरी जाति बसती है। कैनेडा निवासी अमेरिका के आदिम मनुष्य और उत्तरीय ध्रुव प्रदेश की इस्कीमो जाति काली है तथा विश्वतरेखा के पास बोर्नियो, सेलेबीज आदि टापुओं में बसने वाले आदिम निवासी गौरांग हैं।

वर्णभेद का कारण।

हिन्दू शास्त्रकारों के मत से हिन्दुओं के भीतर ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण एवं चीन, हूण, दरद, पहलाव, यवन एवं खश भारत के बाहर की ये सारी जातियाँ आर्य हैं। शास्त्रों की चीन जाति तथा वर्तमान चीन निवासी एक ही नहीं हैं। इसके अतिरिक्त वे लोग उस समय अपने को 'चीनी' कहते भी नहीं थे। चीन नामक एक बड़ी जाति काश्मीर के उत्तर पूर्व भाग में थी। दरद जाति वहाँ रहती थी जहाँ इस समय भारत और अफगानिस्तान के बीच में पहाड़ी जातियाँ अभी भी रहती हैं। प्राचीन चीन जाति के १०-२० वंशज इस समय भी हैं। दरद स्थान इस समय विद्यमान है। राजतरंगिणी नामक काश्मीर के इतिहास में बार बार दरद राज्य की प्रभुता का परिचय मिलता है। हूण नामक प्राचीन जाति ने बहुत दिनों तक भारतवर्ष के उत्तर पश्चिम भाग में राज्य किया था। इस समय तिब्बती अपने को हूण कहते हैं, किन्तु जान पड़ता है कि वे हियून हैं।

आर्य जाति।

मनु द्वारा उल्लिखित हूण आधुनिक तिब्बती तो हैं नहीं किन्तु यह हो सकता है कि आर्य, हूण एवं मध्य एशिया से आई हुई किसी मुगल जाति के संमिश्रण से ही वर्तमान तिब्बतियों की उत्पत्ति हो गई हो।

प्रजावैलस्की एवं डियूकुड आर्लियां नामक रूसी और फ्रांसीसी पर्यटकों के मत से, तिब्बत के स्थान स्थान पर इस समय भी आर्यों जैसे मुँह नाक वाली जाति देखने को मिलती है। यूनानियों को लोग यवन कहते थे। इस नाम के ऊपर वादविवाद हो चुका है। अनेकों का मत है कि यवन नाम 'योनिया' (Ionia) नामक स्थान के रहने वाले यूनानियों के लिए पहले पहल रखा गया था। इसलिए महाराज अशोक की लेखमाला में योन नाम से यूनानी जाति को सम्बोधित किया गया है। इसके बाद योन शब्द से संस्कृत यवन शब्द की उत्पत्ति हुई। हमारे देशी किसी किसी पुरातत्त्ववेत्ता के मत से यवन शब्द यूनानियों का वाचक नहीं है, किन्तु ये सभी मत अशुद्ध हैं। यवन शब्द ही आदि शब्द है, क्योंकि केवल हिन्दू ही यूनानियों को यवन कहते थे ऐसा नहीं, वरन् प्राचीन मिश्र निवासी एवं बेबलोनिया निवासी भी यूनानियों को यवन कहते थे। पहलव शब्द से प्राचीन पारसी लोगों का, जो पहलवी भाषा बोलते थे, बोध होता है। खश शब्द इस समय भी अर्ध सभ्य पहाड़ी देशवासी आर्य जाति के लिए प्रयुक्त होता है। हिमालय प्रदेश में यह शब्द इसी अर्थ में इस समय भी व्यवहार होता है। इस प्रकार वर्तमान यूरोपीय खश जाति के वंशज हैं अर्थात् जो सब आर्य जातियाँ प्राचीन काल में असभ्य अवस्था में थीं।

आधुनिक पण्डितों के मत से आर्यों का सफेद गुलाबी रंग था, काले या लाल बाल थे, आँख और नाक सीधी थी। माथे की गढ़न, केश के रंग आदि में कुछ भिन्नता थी। दूसरी काली जातियों के साथ संमिश्रण से रंग काला हो जाता था। इनके मत से हिमालय के पश्चिम प्रान्त में रहने वाली दो चार जातियाँ पूरी आर्य हैं, अन्य सब मिश्रित जाति हो गई हैं, नहीं तो काला रंग कैसे हो जाता। किन्तु यूरोपीय विद्वानों को जान लेना चाहिये कि इस समय भी दक्षिण भारत में ऐसे अनेक लड़के पैदा होते हैं जिनके केश लाल होते हैं किन्तु दो चार वर्षों के बाद फिर काले हो जाते हैं, एवं हिमालय में बहुतों की लाल, नीली तथा भूरी आँखें होती हैं।

आर्य जाति का गठन और वर्ण।

पण्डितों को इस विषय पर विवाद करने दीजिये। हिन्दू ही अपने को बहुत दिनों से आर्य कहते आ रहे हैं। शुद्ध हो अथवा मिश्रित, हिन्दुओं का ही नाम आर्य है। यदि यूरोपीय काला होने से हमें पसन्द नहीं करते हैं तो उन्हें कोई दूसरा नाम रख लेने दीजिये, इसमें हमारा क्या बिगड़ता है।

हिन्दू और आर्य

चाहे गोरे हो अथवा काले, दुनिया की सब जातियों की अपेक्षा यह हिन्दुओं की जाति अधिक सुन्दर और सुश्रीसम्पन्न है। यह बात मैं अपनी जाति की बड़ाई करने के लिए नहीं कह रहा हूँ, प्रत्युत यह जगत्प्रसिद्ध बात है। इस देश में प्रति सैकड़ा जितने स्त्री–पुरुष सुन्दर हैं, उतने और कहाँ हैं? इसके बाद विचार कर

प्राच्य और पाश्चात्य की साधारण भिन्नतायें।

देखो, दूसरे देशों में सुन्दर बनने में जो लगता है, उसकी अपेक्षा हमारे देश में कितना कम लगता है, कारण यह है कि हमारा शरीर अधिकांश खुला रहता है। दूसरे देशों में कपड़े लत्ते से ढककर कुरूपता को बदल कर सुन्दरता बनाने की चेष्टा की जाती है। किन्तु स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पाश्चात्य देशवासी हमारी अपेक्षा अधिक सुखी हैं। उन देशों में ४० वर्ष के पुरुष को जवान कहते हैं—छोकड़ा कहते हैं, ५० वर्ष की स्त्री युवती कहलाती है। अवश्य ही ये लोग अच्छा खाते हैं, अच्छा पहनते हैं, देश अच्छा है, एवं सबसे अच्छी बात तो यह है कि वे बाल-विवाह नहीं करते। हमारे देश में भी जो दो एक बलवान जातियाँ हैं, उनसे पूछकर देखिये, कितनी उम्र में विवाह करते हैं, गोर्खाली, पंजाबी, जाट, अफ्रीदी आदि पहाड़ी जातियों से पूछिये। इसके बाद शास्त्र को पढ़ देखिये—तीस, पचीस और बीस वर्ष में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को क्रमानुसार विवाह करने को लिखा है। आयु, बल, वीर्य आदि में इनमें और हम लोगों में बहुत भेद है। हमारी बल बुद्धि तीस वर्ष की उम्र पार करते ही शेष हो जाती है और वे लोग उस समय बदन झाड़कर उठ खड़े होते हैं। हम लोग निरामिष भोजी हैं—हमें अधिकांश पेट के ही रोग होते हैं। हमारे अधिकतर बूढ़े बूढ़ी इसी पेट की बीमारी से मरते हैं। वे मांसभोजी हैं, उन्हें अधिकतर हृदय की बीमारी होती है। पाश्चात्य देशों में अधिकतर बूढ़े बूढ़ी हृद्रोग और फेफड़े की बीमारी से मरते हैं। एक पाश्चात्य देशीय विद्वान डाक्टर पूछते हैं कि क्या पेट की बीमारी से पीड़ित लोग प्रायः निरुत्साह और वैरागी होते हैं? हृदय आदि शरीर के ऊपरी भाग के रोगों में

आशा और पूरा विश्वास रहता है। हैज़े का रोगी आरम्भ से ही मृत्यु के भय से अस्थिर हो जाता है। यक्ष्मा का रोगी मरने के समय तक भी विश्वास करता है कि उसे आराम हो जायगा। अतएव क्या इसीलिए भारतवासी सदा मृत्यु और वैराग्य की बातें कहा करते हैं ? मैं तो अभी तक इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर ही नहीं सोच सका, किन्तु बात विचारणीय है अवश्य।

हमारे देश में दाँत और केश के रोग बहुत कम होते हैं और उस देश में बहुत ही कम लोगों के स्वाभाविक दाँत होते हैं। खल्वाट तो सभी जगह पाये जाते हैं। हमारी स्त्रियाँ नाक और कान गहना पहनने के लिए छेदवाती हैं। वहाँ की भले घर की स्त्रियाँ आजकल नाक कान नहीं छेदवातीं किन्तु कमर को बांधकर रीढ़ की हड्डी को मरोड़कर, पिलही और यकृत को अपनी जगह से हटाकर, शरीर को ही कुरूप बना डालती हैं। अपने शरीर को सुन्दर बनाने के कारण उन्हें मृत्यु का कष्ट झेलना पड़ता है। इसके बाद एक मोट कपड़े का बोझ होता है, जिसके ऊपर उनके शरीर का दिखलाई पड़ना आवश्यक है। पाश्चात्य देशीय पोशाक काम काज करने के लिए अधिक उपयुक्त होती है। धनी लोगों की स्त्रियों की सामाजिक पोशाक को छोड़कर अन्य स्त्रियों की पोशाक भद्दी होती है। हमारी स्त्रियों की साड़ी और पुरुषों के चोगा, चपकन और पगड़ी के सौन्दर्य की तुलना इस पृथ्वी पर है ही नहीं। ढीले ढाले कपड़ों की सुन्दरता को तंग कपड़े पा ही नहीं सकते। हमारे सभी कपड़े कलीदार और ढीले ढाले होते हैं, इसलिए उन्हें पहनकर काम काज नहीं किया जा सकता। काम

करने में वे नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। इनका फैशन कपड़े में है और हमारा फैशन गहने में। अब थोड़ा थोड़ा हमारा ध्यान कपड़े की ओर भी गया है। स्त्रियों की पोशाक के लिए पेरिस और पुरुषों की पोशाक के लिए लन्दन केन्द्र हैं। पेरिस की, नर्तकियाँ नये नये फैशन निकालती हैं। एक प्रसिद्ध नर्तकी ने जो पोशाक पहनी, उसी का अनुकरण करने के लिए सब लोग दौड़ पड़ते हैं। आजकल कपड़ा बेचने वाले बड़े बड़े दूकानदार नये फैशन का प्रचार करते हैं। कितने करोड़ रुपया प्रतिवर्ष इस पोशाक बनाने में लगता है, इसे हम समझ नहीं सकते। इन नई पोशाकों की सृष्टि करना इस समय एक बड़ी कला हो गई है। किसी स्त्री के शरीर और केश के रंग के साथ किस रंग की पोशाक मेल खायगी, उसके शरीर का कौन अंग ढकना होगा और कौन खुला रखना पड़ेगा, इत्यादि बातों पर खूब गम्भीर विचार कर तब पोशाक तैयार करनी पड़ती है। इसके बाद दो चार बहुत ऊँची श्रेणी की महिलायें जो पोशाक पहनती हैं, वही पोशाक अन्य स्त्रियों को भी पहननी पड़ेगी, नहीं तो उनकी जाति चली जायगी। इसी का नाम फैशन है। फिर भी यह फैशन घड़ी घड़ी बदलता है। वर्ष के चार मौसमों में चार बार बदलना तो आवश्यक है ही, इसके अलावा और भी कितने समय आते हैं, जब पोशाक बदली जाती है। जो बड़े आदमी होते हैं, वे बड़े बड़े कारखानों से पोशाक बनवाते हैं, किन्तु जो लोग मध्यम श्रेणी के हैं, वे या तो सीने वाली स्त्रियों से नये फैशन के कपड़े सिलवा लेते हैं, या स्वयं ही सीते हैं। यदि नया फैशन अन्तिम पुराने फैशन से मिलता जुलता हुआ, तो वे अपने

पुराने कपड़े को ही काट छाटकर ठीक कर लेते हैं, यदि ऐसा नहीं हुआ तो नये कपड़े खरीदते हैं। अमीर लोग अपने कपड़ों को अपने आश्रितों और नौकरों को दे डालते हैं। मध्यम श्रेणी के लोग उन्हें बेच डालते हैं। तब वे कपड़े यूरोपियनों के उपनिवेश—आफ्रिका, एशिया, आस्ट्रेलिया आदि में जाकर बिकते हैं और पहने जाते हैं। जो बहुत अमीर होते हैं, उनके कपड़े पेरीस से बनकर आते हैं, बाकी लोग अपने देश में ही उनकी नकल कर कपड़े बनवाते हैं। किन्तु स्त्रियों की टोपियाँ तो फ्रान्स की ही बनी होनी चाहिये। जिसके पास फ्रान्स की बनी टोपी नहीं है, वह अच्छी स्त्री ही नहीं समझी जाती। अंग्रेज और जर्मन स्त्रियों की पोशाक अच्छी नहीं समझी जाती। दस बीस अमीर स्त्रियों को छोड़कर वे अच्छे कपड़े नहीं पहनतीं, इसलिए दूसरे देशों की स्त्रियाँ उन पर हँसती हैं। बहुत से अंग्रेज पुरुष बहुत अच्छे कपड़े पहनते हैं। बिना किसी भेद के अमेरिका के सभी स्त्री पुरुष बहुत सुन्दर कपड़े पहनते हैं। यद्यपि विदेशी वस्त्रों का आना रोकने के लिए अमेरिका की सरकार पेरिस और लन्दन के कपड़ों पर बहुत अधिक चुंगी लेती है, फिर भी सभी स्त्रियाँ अपने कपड़े पेरिस तथा सभी पुरुष अपने कपड़े लन्दन से ही मँगवाते हैं। तरह तरह के रंग के पशमीना और बनात तथा रेशमी कपड़े प्रति दिन निकलते हैं, लाखों आदमी उसी को काट छाँटकर पोशाक बनाते हैं। पोशाक यदि ठीक ढंग की न हुई, तो सभ्य पुरुष या स्त्री का रास्ते में निकलना ही कठिन हो जाता है। हमारे देश में कपड़ों के फैशन का यह हंगामा नहीं है, पर गहनों में थोड़ा थोड़ा फैशन घुस रहा है। रेशमी और ऊनी कपड़े के

व्यापारी उन देशों में दिन रात फैशन के परिवर्तनों पर और लोगों को कौन फैशन अधिक पसन्द हुआ, इस सब पर खूब तीखी नजर रखते हैं अथवा कोई नया फैशन तैयार कर उस ओर लोगों के मन को आकृष्ट करने की चेष्टा करते हैं। जहाँ एक बार भी अन्दाज़ा पक्का बैठ गया कि वह व्यवसायी मालामाल हो गया। जब तृतीय नेपोलियन फ्रांस देश के बादशाह थे, उस समय सम्राज्ञी एजेनी पाश्चात्य देश की वेशभूषा की अधिष्ठात्री देवी समझी जाती थीं। उन्हें काश्मीरी शाल बहुत पसन्द था। इसीलिए योरोपीय लाखों रुपये का शाल खरीदते थे। नेपोलियन के पतन के पश्चात् फैशन बदल गया और काश्मीरी शालों की खपत योरोप में रुक गई। हमारे देश के व्यापारी पुरानी लकीर के फकीर हैं। वे समयानुसार किसी नये फैशन का आविष्कार कर बाजार पर कब्जा नहीं कर सके, इसलिए काश्मीर के बाजार को धक्का लग गया, बड़े बड़े सौदागर गरीब हो गये। यह संसार है—जागेगा सो पाएगा, सोएगा सो खोएगा। क्या कोई किसी की प्रतीक्षा करता है? पाश्चात्य देशी लोग सदा नये नये फैशन की चीजें निकालते रहते हैं और लाभानुकूल परिस्थिति को दस नेत्रों से देखते और दो सौ हाथों से काम करते रहते हैं। और हम लोग वह काम कभी नहीं कर सकते, जो शास्त्रों में नहीं लिखा है। कुछ नया काम करने की हमारी शक्ति भी नष्ट हो चुकी है! अन्न बिना हाहाकार मच रहा है। पर दोष किसका है? इसके प्रतिकार की तो कुछ भी चेष्टा नहीं होती, लोग केवल चिल्लाते हैं। अपनी झोपड़ी के बाहर निकलकर क्यों नहीं देखते कि दुनिया के दूसरे लोग किस प्रकार उन्नति कर रहे हैं। तब हृदय के

ज्ञाननेत्र खुलेंगे और आवश्यक कर्तव्य की ओर ध्यान आकृष्ट होगा। देव और असुर का किस्सा तो आप जानते ही हैं। देवता आस्तिक थे—उन्हें आत्मा में विश्वास था, ईश्वर और परलोक में विश्वास करते थे। असुरों का कहना था कि इस जीवन को महत्व दो, पृथ्वी का भोग करो, इस शरीर को सुखी रखो। इस समय हम इस बात पर विचार नहीं कर रहे हैं कि देवता अच्छे थे या असुर। पर पुराणों को पढ़ने से पता चलता है कि असुर ही अधिकतर मनुष्यों की तरह के थे; देवता तो अनेक अंशों में हीन थे। अब यदि कहा जाय कि हिन्दू देवताओं की तथा पाश्चात्य देशवासी असुरों की सन्तान हैं, तो प्राच्य और पाश्चात्य का अर्थ अच्छी तरह समझ में आ जायगा।

शरीर-शुद्धि के सम्बन्ध में प्राच्य और पाश्चात्य की तुलना।

पहले शरीर को ही लेकर देखिये। बाह्य और आभ्यन्तरिक शुद्धि का ही नाम पवित्रता है। मिट्टी, जल आदि के द्वारा शरीर शुद्ध होता है। दुनिया की ऐसी कोई जाति नहीं है जिसका शरीर हिन्दुओं के सदृश साफ़ हो। हिन्दुओं के अतिरिक्त और किसी भी जाति के लोग शौचादि में जल का इतना अधिक व्यवहार नहीं करते। यदि यह कहें कि पाश्चात्य देश वाले नहाते ही नहीं, तो भी कोई हर्ज नहीं। भारत में आने के कारण अंग्रेजों ने अपने देश में स्नान करने की प्रथा चलाई है। जो विद्यार्थी विलायत से पढ़कर लौटे हैं उनसे पूछिये कि वहाँ स्नान करने का कितना कष्ट है। जो लोग स्नान करते हैं, वे सप्ताह में एक दिन; उसी दिन भीतर पहनने का कपड़ा (गंजी, अधबहियाँ,

आदि) बदला जाता है। अवश्य ही कुछ अमीर लोग प्रतिदिन स्नान करते हैं। अमेरिका वालों में प्रतिदिन स्नान करने वालों की संख्या अधिक है। जर्मनी वाले सप्ताह में एक दिन और फ्रान्स तथा दूसरे देश वाले तो बहुत ही कम स्नान करते हैं। स्पेन, इटैली आदि गरम देश हैं, फिर भी वहाँ लोग बहुत कम स्नान करते हैं। लहसुन बहुत खाते हैं, पसीना बहुत होता है, पर सात जन्म में भी जल का स्पर्श नहीं होता। उनके शरीर की दुर्गन्धि से भूतों के भी चौदह पुरखा भाग जायँगे, भूत तो लड़के बच्चे हैं! स्नान का क्या अर्थ है? मुँह, माथा, हाथ धोना—जो अंग बाहर दिखलाई पड़ते हैं और क्या! सभ्यता की राजधानी, रंग ढंग भोग विलास का स्वर्ग, विद्या शिल्प के केन्द्र पेरिस में एक बार मेरे एक धनी मित्र बुला कर ले गये। एक किले के समान होटल में उन्होंने मुझे ठहराया। राजाओं जैसा खाना मिलता था, किन्तु स्नान का नाम भी नहीं था। दो दिन किसी प्रकार मैंने सहा, फिर मुझसे नहीं सहा गया। तब मैंने अपने मित्र से कहा, ' भाई! यह राजभोग तुम्हें ही मुबारक हो। मैं यहाँ से बाहर जाने के लिए व्याकुल हो रहा हूँ। यह भीषण गर्मी, और स्नान करने का कोई ठिकाना ही नहीं; पागल कुत्ते के जैसी मेरी दशा हो रही है।" यह बात सुनकर मेरे मित्र बहुत दुःखी हुए और होटल के कर्मचारियों पर बड़े कुपित हुए। उन्होंने कहा—अब मैं तुम्हें यहाँ नहीं ठहरने दूँगा, चलो कोई दूसरी अच्छी जगह ढूंढ़ी जाय।

बारह प्रधान होटल देखे गये, पर स्नान करने का प्रबन्ध कहीं नहीं था, अलग स्नान करने के स्थान थे, जहाँ एक बार चार

पाँच रुपया देकर स्नान किया जा सकता था। उसी दिन शाम को मैंने एक अखबार में पढ़ा कि एक बुढ़िया स्नान करने के लिए हौज में बैठी और वहीं मर गयी। डाक्टर चाहे जो कहें, पर मैं तो यही कहूँगा कि जीवन में प्रथम बार ही बुढ़िया के अंग का उतने जल से स्पर्श हुआ होगा, इसीलिए उसकी अचानक मृत्यु हो गई! इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। रूस वाले तो सर्वथा म्लेच्छ हैं, तिब्बत से ही म्लेछता आरम्भ हो जाती है। अमेरिका के प्रत्येक निवास-गृह में अवश्य ही एक स्नानागार और जलकल है।

किन्तु देखिये, हममें और इनमें कितना अन्तर है। हम हिन्दू किसलिए स्नान करते हैं? हमें अधर्म का डर है और पाश्चात्य लोग शरीर साफ करने के लिए हाथ मुँह धोते हैं। हमारे शरीर में चाहे मैल और तेल लगा ही क्यों न रहे, सिर्फ ऊपर पानी उड़ेल लेने से हमारा काम चल जाता है। हमारे दाक्षिणात्य भाई लोग इतना लम्बा चौड़ा तिलक लगाते हैं कि उसे झांवा से भी धोकर साफ करना ज़रा टेढ़ी खीर है! हमारे स्नान करने की प्रथा बड़ी सरल है, कहीं भी डुबकी मार लेने से काम चल जाता है, किन्तु पाश्चात्य देशों में ऐसा नहीं है। उन्हें एक गांठ कपड़ा ही खोलना पड़ता है, बटन, हुक और काज का तो कहना ही क्या? हमें शरीर दिखलाने में कोई लज्जा नहीं है, उनके लिए यह अच्छा नहीं है। बाप बेटे के सामने विवस्त्र हो सकता है, पर स्त्रियों के सामने आपादमस्तक होकर कपड़ा पहनना ही होगा।

बहिराचार दूसरे आचारों की तरह कभी कभी अत्याचार या

अनाचार हो जाता है। यूरोपियन लोग कहते हैं कि शरीर सम्बन्धी सब कार्य बहुत गुप्त रूप से करना चाहिये, बात बहुत ठीक है। शौच आदि की बात दूर रहे, लोगों के सामने थूकना भी बहुत अशिष्टता है। खाकर सबके सामने मुँह धोना या कुल्ला करना भी बड़ी लज्जा की बात है। लोकलज्जा के भय से खा पीकर चुपचाप मुँह पोंछकर बैठ जाइये, इसका परिणाम दाँतों का सर्वनाश है। यह है सभ्यता के भय से अनाचार। हम लोग दुनिया के लोगों के सामने रास्ते में बैठकर मुँह में हाथ डाल डाल कर मुँह धोते हैं, दाँत साफ करते हैं, कुल्ला करते हैं, यह अत्याचार है। अवश्य ही ये सब काम आड़ में करना चाहिये, किन्तु न करना भी अनुचित है।

फिर, देश-भेद के कारण जो कार्य अनिवार्य हैं, उन्हें समाज शान्त रूप से अपना लेता है। हमारे जैसे गरम देश में भोजन करने के समय हम आधा घड़ा पानी पी डालते हैं, फिर हम न डकारें तो क्या करें ? किन्तु पाश्चात्य देशों में डकारना बहुत असभ्य काम है। पर खाते खाते जेब से रूमाल निकाल कर यदि नाक साफ की जाय तो कोई हर्ज नहीं है। किन्तु हमारे देश में यह बड़ी घृणित बात है। ठंडे देशों में बीच बीच में नाक न साफ किये बिना बैठा ही नहीं जा सकता।

हम हिन्दू लोग मैले से अत्यन्त घृणा करते हैं, फिर भी हम बहुत मैले रहते हैं। हमको मैले से इतनी घृणा है कि जिसने मैला छुआ उसे स्नान करना पड़ेगा। इसीलिए दरवाज़े पर मैले के ढेर को हम सड़ने देते हैं ! सिर्फ ध्यान इस बात का रहता है कि हम

उसे छूते तो नहीं ! पर इधर जो नरक-कुण्ड का वास होता है उसका क्या ? एक अनाचार के भय से दूसरा महा घोर अनाचार ! एक पाप से बचने के लिए हम दूसरा गुरुतर पाप करते हैं ! जो अपने घर में कूड़े का ढेर रखता है, वह अवश्य ही पापी है, इसमें सन्देह ही क्या है । उसका दण्ड भोगने के लिए उसे न तो दूसरा जन्म ही लेने की आवश्यकता होगी और न बहुत देर तक ठहरना ही पड़ेगा ।

आहार के सम्बन्ध में प्राच्य और पाश्चात्य आचार की तुलना।

हम लोगों की जैसी साफ़ रसोई कहीं भी नहीं है। विलायती भोजन-पद्धति की तरह हमारा तरीका साफ़ नहीं है। हमारी रसोईदारिन स्नान करती है, कपड़ा बदलती है, बर्तन-भाड़ा, चूला-चौका सब धो माँज़कर साफ़ करती है, नाक, मुँह या शरीर में हाथ छू जाने से उसी समय हाथ धोकर फिर खाद्य पदार्थ में हाथ लगाती है । विलायती रसोईदारिन के तो चौदह पुरखों ने भी कभी स्नान नहीं किया होगा ! पकाते पकाते खाने को चखती है और फिर उसी चिमचे को बटलोई में डालती है। रुमाल निकालकर थूकती है, नाक साफ़ करती है और फिर उसी हाथ से मैदा सानती है ! पैखाने से आती है—कागज का शौच में व्यवहार करती है, पैर हाथ धोने के लिए मिट्टी भी नहीं मिलती; बस उसी हाथ से पकाने लग जाती है । किन्तु वह पहनती है खूब साफ़ कपड़ा और टोपी । एक नाद में मैदा डालकर दो आदमी पैर से कुचलते हैं—इसी तरह मैदा गूंधा जाता है । गर्मी का मौसिम—सारे शरीर का पसीना पैर के रास्ते बहकर उसी मैदे में जाता है ! जब उसकी रोटी तैयार

होती है, तब दूध ऐसी साफ़ तौलिया के ऊपर चीनी के बर्तन में सजाई जाकर साफ़ चद्दर बिछे हुए टेबल के ऊपर, साफ़ कपड़े पहने हुए कुहनी तक हाथ में साफ़ दस्ताना चढ़ाए हुए नौकर लाकर सामने रख देता है ! शायद कोई चीज़ हाथ से छूनी पड़े इसीलिए कुहनी तक दस्ताना पहने रहता है ।

हमलोगों के यहाँ स्नान किये हुए ब्राह्मण-देवता, धोये माँजे हुए बर्तन में शुद्ध होकर पकाते हैं और गोबर से लिपी हुई जमीन पर थाली रखते हैं; ब्राह्मण-देवता के कपड़े पसीने से मैले हो जाते हैं, उनमें से बदबू निकलने लगती है । कभी कभी केले का पत्ता फटा होने से मिट्टी, मैला, गोबर युक्त रस एक अपूर्व आस्वाद उपस्थित करता है !

हमलोग दिव्य स्नान करके तेल लगा हुआ मैला कपड़ा पहनते हैं और यूरोप में मैले शरीर पर बिना स्नान किये हुए खूब साफ़ सुथरी पोशाक पहनी जाती है । इसे ही अच्छी तरह समझो, यहीं पर जमीन आसमान का फर्क है—हिन्दुओं की अन्तर्दृष्टि होती है, वे सब कामों में समानता रखते हैं । हिन्दू फटी गुदड़ी में कोहनूर रखते हैं, विलायत वाले सोने के बक्स में मिट्टी का ढेला रखते हैं । हिन्दुओं का शरीर साफ़ होने से ही काम चल जाता है, कपड़ा चाहे जैसा ही क्यों न हो । विलायत वालों का कपड़ा साफ होने से ही काम चलता है, शरीर मैला भी रखा जा सकता है । हिन्दुओं का घर-द्वार धो माँजकर साफ़ रहता है, चाहे उसके बाहर नरक का कूड़ा ही क्यों न हो ! विलायत वालों की फर्श पर

झकझकाती कार्पेट (एक प्रकार की दरी) पड़ी रहता है, कूड़ा कर्कट छिपा रखने से ही काम चल जाता है। हिन्दुओं का पनाला रास्ते पर रहता है, जिससे बहुत दुर्गन्ध उड़ती है। विलायत वालों का पनाला रास्ते के नीचे रहता है—जो सन्निपात ज्वर का घर है। हिन्दू भीतर साफ़ रखते हैं। विलायती बाहर साफ़ रखते हैं।

क्या चाहिये ? साफ़ शरीर पर साफ़ कपड़े पहनना। मुँह धोना, दाँत माँजना, सब चाहिये—पर एकान्त में। घर साफ़ चाहिये। रास्ता घाट भी साफ़ हो। साफ़ रसोइया, साफ़ हाथों से पका भोजन, साफ सुथरे मनोरम स्थान में साफ किये हुए बर्तन में खाना चाहिये।

'आचारः प्रथमो धर्मः'—मनु १।१०८

आचार ही पहला धर्म है, आचार की पहली बात है सब विषयों में साफ सुथरा रहना। आचारभ्रष्ट से कब इतना धर्म होगा ? अनाचारी का दुःख नहीं देखते हो, देखकर भी नहीं सीखते हो ? इतनी महामारी, हैजा, मलेरिया किसके दोष से होता है ? हमारे दोष से, हमीं महा अनाचारी हैं।

आहार शुद्ध होने से मन शुद्ध होता है। मन शुद्ध होने से आत्म सम्बन्धी स्मृति होती है—इस शास्त्रवाक्य को हमारे देश में सभी सम्प्रदायों ने माना है। फिर भी •शंकराचार्य ने आहार शब्द का अर्थ 'इन्द्रिय' और रामानुजाचार्य ने 'भोज्य द्रव्य' किया है। सर्ववादी-सम्मत सिद्धान्त यही है कि दोनों ही अर्थ ठीक हैं। विशुद्ध आहार न होने से सब इन्द्रियाँ ठीक ठीक काम कैसे करेंगी ? खराब आहार से सब इन्द्रियों की ग्रहण शक्ति का ह्रास व

विपर्यय हो जाता है, यह बात सबको प्रत्यक्ष है। अजीर्ण दोष से एक चीज़ को दूसरी समझकर भ्रम होता है और आहार के अभाव से दृष्टि आदि शक्तियों का ह्रास होता है, यह भी सब जानते हैं। इसी तरह कोई विशेष भोजन किसी विशेष शारीरिक एवं मानसिक अवस्था को उपस्थित करता है, यह भी कई बार सिद्ध हो चुका है। हमारे समाज में जो इतना खाद्याखाद्य का विचार है, उसकी जड़ में भी यही तत्व है, यद्यपि हम अनेक विषयों में खास चीज़ को भूलकर सिर्फ आधार को ही लेकर बहुत कुछ उछल कूद मचाते हैं।

रामानुजाचार्य ने खाद्य पदार्थ के सम्बन्ध में तीन दोषों से बचने के लिए कहा है। जाति-दोष—अर्थात् जो दोष खाद्य पदार्थ का जातिगत हो, जैसे प्याज लहसुन आदि उत्तेजक पदार्थ खाने से मन में अस्थिरता आती है अर्थात् बुद्धि भ्रष्ट होती है। आश्रय-दोष—अर्थात् जो दोष व्यक्तिविशेष के स्पर्श से आता है। दुष्ट लोगों का अन्न खाने से ही दुष्ट बुद्धि होगी और भले आदमी का अन्न खाने से भली बुद्धि का होना इत्यादि। निमित्त-दोष—अर्थात् मैला, दूषित, कीड़े, केश युक्त अन्न खाने से भी मन अपवित्र होता है। इनमें से जाति-दोष और निमित्त-दोष से बचने की चेष्टा सभी कर सकते हैं, किन्तु आश्रय-दोष से बचना सब के लिए सहज नहीं है। इसी आश्रय-दोष से बचने के लिए ही हमारे देश में छुआछूत का विचार है। अनेक स्थानों पर इसका उल्टा अर्थ लगाया जाता है और असली अभिप्राय न समझने से यह एक कुसंस्कार भी हो गया है। यहाँ लोकाचार को छोड़कर लोकमान्य महापुरुषों के ही आचार ग्रहणीय हैं। श्रीचैतन्य देव आदि जगद्

गुरुओं के जीवन-चरित्र को पढ़कर देखिये, वे लोग इस सम्बन्ध में क्या व्यवहार कर गये हैं। जाति-दोष से दूषित अन्न के सम्बन्ध में भारतवर्ष जैसा शिक्षा-स्थल पृथ्वी पर इस समय और कहीं नहीं है। समस्त संसार में हमारे देश के सदृश पवित्र द्रव्यों का आहार करने वाला और दूसरा कोई भी देश नहीं है। निमित्त-दोष के सम्बन्ध में इस समय बड़ी भयानक अवस्था उपस्थित हो गई है। हलवाइयों की दूकान, बाजार में खाना, आदि सब महा अपवित्र देखते ही हो। किस प्रकार के निमित्त-दोष से दूषित वहाँ के कपड़े और सामग्रियाँ होती हैं। इसका फल यही है। यह जो घर घर में अजीर्ण होता है वह इसी हलवाई की दूकान और बाजार में खाने का फल है। यह जो पेशाब की बीमारी का प्रकोप है, वह भी हलवाई की दूकान का फल है। गांव के लोगों को तो अजीर्ण और पेशाब की इतनी बीमारी नहीं होती। इसका प्रधान कारण है पूरी कचौड़ी और विषाक्त लड्डुओं का अभाव। इस बात को आगे चल कर अच्छी तरह समझायेंगे।

यह तो हुआ खाने पीने के सम्बन्ध में प्राचीन साधारण नियम। इस नियम के बीच में भी फिर कई मतामत प्राचीन काल में चलते थे और आज भी चल रहे हैं।

आमिष और निरामिष भोजन। प्राचीन काल से आधुनिक काल तक आमिष और निरामिष भोजन पर ही विवाद चल रहा है। मांस-भोजन उपकारक है या अपकारक, इसके अलावा जीव-हत्या न्याय—सम्मत है या अन्याय, यह एक बहुत बड़ा वितण्डावाद बहुत दिनों से चल रहा है। एक पक्ष कहता है, किसी कारण से भी हत्या रूपी पाप

करना उचित नहीं, पर दूसरा पक्ष कहता है कि अपनी बात दूर रखो, हत्या न करने से प्राण धारण ही नहीं हो सकता। शास्त्र-वादियों में महा गोलमाल है। शास्त्र में एक स्थान पर कहा जाता है कि यज्ञस्थल में हत्या करो और दूसरे स्थान पर कहा जाता है कि जीव–हत्या मत करो। हिन्दुओं का सिद्धान्त है कि यज्ञस्थल को छोड़कर किसी दूसरे स्थान पर जीव-हत्या करना पाप है। किन्तु यज्ञ करके सुख से मांस भोजन किया जा सकता है। इतना ही नहीं, गृहस्थों के लिए अनेक ऐसे नियम हैं कि अमुक अमुक स्थान पर हत्या न करने से पाप होगा–जैसे श्राद्धादि। उन सब स्थानों पर निमंत्रित होकर मांस न खाने से पशु का जन्म होता है—ऐसा मनु ने लिखा है। जैन और बौद्ध कहते हैं कि हम तुम्हारा शास्त्र नहीं मानते, हत्या किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती। बौद्ध सम्राट अशोक की आज्ञा थी—'जो यज्ञ करेगा व निमन्त्रण देकर मांस खिलायेगा वह दण्डित होगा।' आधुनिक वैष्णव कुछ और ही असमञ्जस में पड़े हैं। उनके देवता राम अथवा कृष्ण मद मांस आदि उड़ा रहे हैं—यह रामायण और महाभारत में लिखा है। * सीतादेवी ने गंगा जी

---

* सीतामादाय हस्तेन मधु मैरेयकं शुचि।
पाययामास काकुत्स्थः शचीमिव पुरंदरः॥
मांसानि च सुमृष्टानि फलानि विविधानि च।
रामस्याभ्यवहारार्थं किंकरास्तूर्णमाहरन्॥

—रामायण, उत्तर ४२

सुराघटसहस्रेण मांसभूतोदनेन च।
यक्ष्ये त्वां प्रीयतां देवी पुरीं पुनरुपागता॥

—रामायण, अयोध्या ५५

को मांस, भात और हजार कलसी मद्य चढ़ाने की मनौती मानी थी। वर्तमान काल में लोग शास्त्र की बातें भी नहीं मानते और महापुरुष का कहा हुआ है, ऐसा कहने से भी नहीं सुनते।

पाश्चात्य देश वाले कहते हैं कि मांस खाने से रोग होता है, निरामिष भोजन करने वाले निरोग रहते हैं। एक पक्ष कहता है कि मांसाहारी रोगी होता है। दूसरा दल कहता है कि यह सब झूठ बात है, यदि ऐसा होता तो हिन्दू निरोग होते और अंग्रेज, अमेरिकन आदि प्रधान मांसाहारी जातियाँ इतने दिनों में रोग से मटियामेट हो गई होतीं। एक पक्ष कहता है कि बकरा खाने से बकरे जैसी बुद्धि हो जाती है, सूअर खाने से सूअर जैसी बुद्धि होती है, मछली खाने से मछली जैसी बुद्धि होती है। दूसरा पक्ष कहता है, गोभी खाने से गोभी जैसी बुद्धि होती है, आलू खाने से आलू जैसी बुद्धि होती है और भात खाने से भात-बुद्धि होती है—जड़ बुद्धि की अपेक्षा चैतन्य बुद्धि होना अच्छा है! एक पक्ष कहता है कि जो भात दाल है वही मांस भी है। दूसरा पक्ष कहता है कि हवा भी तो वही है फिर तुम हवा खाकर क्यों नहीं रहते? एक पक्ष कहता है कि निरामिष होकर भी लोग कितना परिश्रम करते हैं। दूसरा पक्ष कहता है कि यदि ऐसा होता तो निरामिषभोजी जाति ही प्रधान होती, किन्तु चिरकाल से मांसभोजी जाति ही बलवान और प्रधान है। मांसाहारी कहते हैं कि हिन्दुओं और चीनियों को देखो, खाने को

उभौ मध्वासवक्षिप्तौ उभौ चंदनचर्चितौ।
उभौ पर्यंकरथिनौ दृष्टौ मे केशवार्जुनौ॥

—महाभारत, आदि पर्व

नहीं मिलता; साग भात खाकर जान देते हैं, इनकी दुर्दशा देखो। जापानी भी ऐसे ही थे। मांस खाना आरम्भ करने से ही उनका स्वभाव बदल गया है।

भारतवर्ष में डेढ़ लाख हिन्दुस्तानी सिपाही हैं, उनमें देखिये कितने निरामिष भोजन करते हैं। अच्छे सिपाही गोरखा या सिक्ख होते हैं, देखो तो भला कौन कब निरामिषभोजी था। एक पक्ष कहता है कि मांस खाने से बदहजमी होती है, और दूसरा कहता है कि यह सब गलत है, निरामिषभोजियों को ही इतने पेट के रोग होते हैं। एक पक्ष कहता है कि तुम्हारा कोष्ठ-शुद्धि का रोग साग भात खाने से जुलाब लेने की तरह अच्छा हो जाता है; ऐसा कहकर क्या सारी दुनिया को वैसा ही बनाना चाहते हो? फलतः बहुत दिनों से मांस खाने वाली जातियाँ ही युद्धवीर और चिन्तनशील हैं। मांस खाने वाली जातियाँ कहती हैं कि जिस समय यज्ञ का धुआं सारे देश से उठता था उस समय हिन्दुओं में बड़े बड़े दिमाग वाले पुरुष होते थे। जब से यह बाबाजी का तरीका हुआ तब से एक आदमी भी वैसा नहीं पैदा हुआ। इस प्रकार डर से मांस भोजी मांस खाना छोड़ना नहीं चाहते। हमारे देश में आर्य समाज में यही विवाद चल रहा है। एक पक्ष कहता है कि मांस खाना अत्यन्त आवश्यक है, दूसरा कहता है कि मांस खाना सर्वथा अन्याय है। यही वादविवाद चल रहा है। सब पक्षों की राय जान सुनकर मेरी तो यही राय होती है कि हिन्दू ही ठीक रास्ते पर हैं। अर्थात् हिन्दुओं की यह जो व्यवस्था है कि जन्म-कर्म के भेद से आहार आदि में भिन्नता होगी, यही ठीक सिद्धान्त है। मांस खाना अवश्य

असभ्यता है। निरामिष भोजन एकदम ही पवित्र है। जिनका उद्देश्य धार्मिक जीवन है, उनके लिए निरामिष भोजन अच्छा है और जिसे रातदिन परिश्रम करके प्रतिद्वन्द्विता के बीच में जीवन-नौका खेना है, उसे मांस खाना ही होगा। जितने दिन 'बलवान की जय' का भाव मानव समाज में रहेगा, उतने दिन मांस खाना ही पड़ेगा अथवा किसी दूसरे प्रकार की मांस जैसी उपयोगी चीज़ खाने के लिए ढूंढ़ निकालनी होगी। नहीं तो बलवानों के पैर के नीचे बलहीन पिस जायँगे। राम, श्याम निरामिष खाकर मजे में हैं, ऐसा कहने से नहीं चलेगा। एक जाति की दूसरी जाति से तुलना करके देखना होगा।

फिर निरामिषभोजियों में भी विवाद होता है। एक पक्ष कहता है कि चावल, आलू, गेहूं, जौ, मकई आदि शर्कराप्रधान खाद्य भी कुछ नहीं हैं। उन सब को मनुष्य बनाता है, उन्हें खाने से रोग होते हैं। शर्करा-उत्पादक (Starchy) भोजन रोग का घर है। घोड़ा, गाय आदि को घर में रखकर चावल, गेहूं खिलाने से वे रोगी हो जाते हैं और मैदान में छोड़ देन से हरी घास खाते ही उनका रोग घट जाता है। घास, साग, पात आदि हरी चीज़ों में शर्करा-उत्पादक पदार्थ बहुत कम हैं। वनमानुष जाति बादाम और घास खाती है, आलू, गेहू नहीं खाती और यदि खाती भी है तो कच्चे रूप में, जब 'स्टार्च' (Starch) अधिक नहीं होता। यह सब तरह तरह का यथेष्ट विवाद चलता है। एक पक्ष कहता है कि पका हुआ मांस, फल और दूध यही भोजन दीर्घ जीवन के लिए उपयोगी है। विशेष फल खाने वाला बहुत दिनों तक नौजवान रहेगा। कारण, फल की खटाई हाथ पैर में मोर्चा नहीं लगने देती।

अब सर्वसम्मत सिद्धान्त यह हुआ कि पुष्टिकारक और शीघ्र हजम होनेवाला भोजन खाना चाहिये। थोड़े परिश्रम से बहुत पुष्ट और शीघ्र पच जाय, ऐसा भोजन खाना चाहिये। जिसे खाने से पुष्टि कम होती है, उसे ही अधिक परिमाण में खाना पड़ता है। इसलिये उसके पचने में सारा दिन लग जाता है। यदि भोजन को हजम करने में ही सारी शक्ति लग जाय तो फिर दूसरा काम करने की शक्ति कहाँ रहेगी?

हमारे देश के खाद्य पदार्थ की आलोचना।

भुनी हुई चीजें असली जहर है। हलवाई की दूकान यम का घर है। घी तेल गरम देश में जितना कम खाया जाय, उतना ही अच्छा है। घी की अपेक्षा मक्खन जल्दी हजम होता है। मैदे में कुछ भी नहीं है, देखने ही में सफेद है। जिसमें गेहूँ का सार भाग हो, वही आटा खाना चाहिये। हमारे बंगाल देश में इस समय भी दूर के छोटे छोटे गाँवों में जो भोजन का बन्दोबस्त है, वही अच्छा है। किस प्राचीन बङ्गाली कवि ने पूरी-कचौड़ी का वर्णन किया है? यह पूरी-कचौड़ी तो पश्चिम से आई है वहाँ भी लोग बीच बीच में उन्हें खाते हैं, हर रोज 'पक्की रसोई' खाने वालों को तो मैंने नहीं देखा है। मथुरा के चौबे कुश्तीबाज होते हैं, लड्डू और कचौड़ी उन्हें अच्छी लगती है। दो ही चार वर्षों में चौबेजी की पाचन शक्ति का सर्वनाश हो जाता है, फिर तो चौबेजी चूरण खा-खाकर मरते हैं।

गरीबों को भोजन नहीं मिलता, इसलिए वे भूखे ही मरते हैं और धनी अखाद्य खाकर मरते हैं। इससे तो पेट भरने की अपेक्षा

उपवास ही अच्छा है। हलवाई की दूकान पर खाने लायक कोई चीज़ नहीं होती, वे एकदम विष हैं। पहले असभ्य लोग इन्हें खाते थे, इस समय तो शहर के लोग—विशेष कर वे परदेशी जो शहर में वास करते हैं—इन्हें ही खाते हैं। इनसे अजीर्ण होकर यदि अकाल मृत्यु हो जाय, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? मुफ्त में मिलने पर भी कचौड़ी जलेबी को फेंककर एक पैसे की लाई मोल लेकर खाइये। किफ़ायत भी होगी और कुछ खाये ऐसा भी होगा। भात, दाल, रोटी, मछली, तरकारी और दूध यथेष्ट भोजन है; किन्तु दाल दक्षिणियों जैसी खाना उचित है अर्थात् दाल का सिर्फ पानी (जूस) और बाकी सब गाय को दे देना चाहिये। यदि पैसा हो तो मांस भी खा सकते हो, किन्तु भिन्न भिन्न प्रकार के पश्चिमी मसालों को बिना मिलाये मांस खाना चाहिये। मसाला खाने की चीज़ नहीं है—उन्हें खाने में केवल अभ्यास का दोष है। दाल बहुत पुष्टिकर खाद्य है, किन्तु बहुत देर में हजम होती है। हरी मटर की दाल बहुत ही जल्द हजम होती है और खाने में भी बहुत स्वादिष्ट होती है। पेरिस राजधानी में हरी मटर का जूस बहुत विख्यात है। कच्ची मटर की दाल को खूब पकाकर फिर उसे पीसकर जल में घोल दो। फिर एक दूध छानने की छन्नी की तरह की तार की चलनी से छान लेने से ही भूसी वगैरह निकल जायगी। इसके बाद हल्दी, धनियाँ, जीरा, काली मिर्च, मिर्चा तथा और जो चीज़ें डालना हो उन्हें डालकर छौंक लेने से उत्तम, स्वादिष्ट सुपाच्य दाल बन जाती है। यदि उसमें एक मछली या बकरे का सिर हो तो वह उपादेय होगी।

देश में पेशाब की बीमारी की जो इतनी धूम है, उसका अधिकांश कारण अजीर्ण ही है; यह दो चार आदमियों को अधिक मानसिक परिश्रम से होती है, बाकी सब को बदहज़मी से। खाने का अर्थ क्या पेट भरना ही है? जितना हज़म हो जाय, उतना ही खाना चाहिये। तोंद का बढ़ना बदहज़मी का पहला चिह्न है। सूख जाना या मोटा होना दोनों ही बदहज़मी है। पैर का मांस लोहे की तरह सख्त होना चाहिये। पेशाब में चीनी या आलबूमन (Albumen) दिखलाई पड़ते ही हांफ कर मत बैठ जाओ। ये सब हमारे देश में कुछ भी नहीं हैं। भोजन की ओर खूब ध्यान दो जिससे अजीर्ण न हो। जहाँ तक सम्भव हो खुली हवा में रहो। खूब घूमो और परिश्रम करो। जैसे हो छुट्टी लेकर बद्रिका-श्रम की तीर्थयात्रा करो। हरिद्वार से पैदल १०० कोस चलकर बद्रिकाश्रम जाने और लौटने से ही वह पेशाब की बीमारी न जाने कहाँ भाग जायगी! डाक्टर फाक्टर को पास मत फटकने दो। उनमें से अधिकांश ऐसे हैं कि अच्छा तो कर नहीं सकेंगे, उल्टा खराब कर देंगे। हो सके, तो दवा एकदम मत खाओ। रोग से यदि एक आना मरते हैं, तो औषधि खाकर पन्द्रह आना मरते हैं। हो सके, तो हर साल पूजा की छुट्टी में पैदल घर जाओ। धन होना और आलसियों का बादशाह बनना इस देश में एक ही बात समझी जा रही है। जिसको पकड़कर चलाना पड़े, खिलाना पड़े, वह तो जीवित रोगी है—हत-भाग्य है! जो पूरी की परत को छीलकर खाते हैं, वे तो मानो मर गये हैं। जो एक सांस में दस कोस पैदल नहीं चल सकता, वह आदमी नहीं केंचुआ है। यदि रोग अकाल मृत्यु बुला दे, तो कोई क्या करेगा?

जो पावरोटी है वह भी विष ही है, उसको बिलकुल मत छूना। खमीर मिलाने से मैदा कुछ का कुछ हो जाता है। कोई खमीरदार चीज़ मत खाना। इस सम्बन्ध में हम लोगों के शास्त्रों में जो सब प्रकार की खमीरदार चीज़ों के खाने का निषेध है, वह बिलकुल ठीक है। शास्त्र में जो कोई मीठी चीज़ खट्टी हो जाय, उसे 'सूक्त' कहते हैं; दही को छोड़कर उन सभी चीज़ों के खाने का निषेध है। दही बहुत ही उपादेय तथा अच्छी चीज़ है। यदि पावरोटी खाना ही पड़े तो उसे दुबारा आग पर खूब सेंककर फिर खाओ। अशुद्ध जल और अशुद्ध भोजन रोग का घर है। अमेरिका में इस समय में जल-शुद्धि की बड़ी धूम है। फिल्टर वाटर के दिन अब गये। फिल्टर जल को सिर्फ थोड़ा छानकर देते हैं, किन्तु रोगों के कारण जो सब कीटाणु हैं, वे तो उसमें बने ही रहते हैं। हैजे और प्लेग के कीटाणु तो ज्यों के त्यों बने रहते हैं; ज्यादातर तो स्वयं फिल्टर इन सब कीटाणुओं की जन्मभूमि बन जाता है। कलकत्ते में जब पहले पहल फिल्टर किए हुए जल का प्रचार हुआ तो उस समय चार पाँच वर्षों तक हैजा वगैरह कुछ नहीं हुआ। इसके बाद फिर वही हालत हो गई। अर्थात् वह फिल्टर ही स्वयं हैजे के बीज का घर हो गया! फिल्टरों में जो तिपाई पर तीन घड़े रखकर पानी साफ़ किया जाता है वह उत्तम है। किन्तु दो तीन दिन के बाद बालू और कोयले को बदल देना चाहिये और यह जो थोड़ी फिटकिरी डालकर गङ्गा के पानी को साफ करने का ढङ्ग है, वह सबसे अच्छा है। फिटकिरी का ढेला यथाशक्ति मिट्टी, मैला और रोग के बीज को धीरे धीरे नीचे बैठा देता है। गंगाजल घड़े में भरकर

थोड़ा फिटकिरी का चूरा डालकर साफ करके जो हम व्यवहार में लाते हैं, वह विलायती फिल्टर सिल्टर से कहीं अच्छा है। हाँ, जल को साफ कर लेने से निडर होकर व्यवहार किया जा सकता है। फिल्टर को दूर हटाकर फिटकिरी से साफ किये हुए पानी को ठण्डा करके व्यवहार में लाओ। इस समय अमेरिका में बड़े बड़े यन्त्रों की सहायता से जल को भाफ बना देते हैं, फिर उसी भाफ से जल बनता है। इसके बाद एक यन्त्र के द्वारा उसके भीतर विशुद्ध वायु मिलाते हैं—यह वायु जल के भाफ बनने के समय निकल जाती है। यह जल अत्यन्त शुद्ध है। इस समय अमेरिका के प्रत्येक घर में इसीका प्रचार है। हमारे देश में जिनके पास दो पैसा है वे अपने बाल-बच्चों को पूरी मिठाई खिलायेंगे ही! भात रोटी खिलाना उनके लिए अपमान है! इससे बाल-बच्चे मिगट हो जाते हैं तथा उनका पेट निकल आता है और सचमुच जानवर की शकल न हो जायगी, तो क्या? इतनी बलवान अंग्रेज जाति भी पूरी मिठाई आदि से डरती है। ये लोग तो बर्फीले देशों में रहते हैं! दिन रात कसरत करते हैं! हम लोग तो अग्निकुण्ड में रहते हैं, पर एक घर से हटकर दूसरे घर में नहीं रहना चाहते और खाना चाहते हैं पूरी कचौड़ी मिठाई—घी में और तेल में तली हुई! पुराने जमाने में गांव के ज़मींदार सहज में दस कोस घूम आते थे, दो कोड़ी 'कवई' मछली कांटा समेत चबा जाते थे और सौ वर्ष जीते रहते थे। उनके लड़के बच्चे कलकत्ते आकर आँख पर चश्मा लगाते हैं, पूरी कचौड़ी खाते हैं, रात दिन गाड़ी पर चढ़ते हैं और पेशाब की बीमारी होने से मरते हैं; कलकतिया होने का यही फल

है ! और सर्वनाश करते हैं ये अजीब डाक्टर और वैद्य । वे सर्वज्ञ हैं, औषधि के प्रभाव से सब कुछ कर सकते हैं ! पेट में गर्मी हुई तो ऐसी ही एक दवा दीजिये । ये अजीब वैद्य भी यह नहीं कहते कि दवा छोड़कर दो कोस टहल आओ । मैंने भिन्न भिन्न देश देखे हैं, भिन्न भिन्न प्रकार के भोजन भी किए हैं, पर हम लोगों के भात, दाल, रस तरकारी, केले के फूल के साग की वे बराबरी नहीं कर सकते, इनके लिए पुनर्जन्म लेना भी कोई बड़ी बात नहीं है ! दांत रहने पर भी तुम लोग दांत का महत्व नहीं समझते, अफसोस तो यही है । खाने में क्या अंग्रेज की नकल करनी होगी—उतना रुपया कहाँ है ? इस समय हमारे देश का उपयोगी यथार्थ बङ्गाली भोजन ही है, पूर्व बंगाल का भोजन उपादेय पुष्टिकर और सस्ता है; जितना हो सके उसी की नकल करो । जितना पश्चिम की ओर बढ़ोगे, उतना ही खराब है । अन्त में उर्द की दाल और मछली का झोल मात्र यही आधे संथाली परगने, वीरभूमि, बांकुड़ा आदि का भोजन है । तुम लोग कलकत्ते के आदमी हो, यह जो सर्वनाश की जड़ हलवाई की दूकान खोलकर बैठे हो, वहाँ मिट्टी युक्त मैदे का सामान बनता है, उसकी सुन्दरता के फेर में पड़कर वीरभूमि, बांकुड़ा ने लाई को दामोदर में बहा दिया है और उर्द की दाल उन लोगों ने गड्ढे में फेंक दी; पोस्ता से दीवाल को लीप दिया; ढाका और विक्रमपुर वाले भी 'टाई' मछली, कछुए आदि को जल में बहा कर 'सभ्य' हो गये हैं ! स्वयं तो सत्यानाश हुए ही हो, अब सारे देश को नष्ट कर रहे हो, यही तो तुम लोग बड़े सभ्य हो, शहर के बाशिन्दे हो ! तुम लोगो के मुहँ में आग लगे ! वे लोग भी इतने

अहमक हैं कि कलकत्ते की बची खुची चीज़ें खाकर संग्रहणी और पेचिश की बीमारी से मरते हैं। तब भी चूं नहीं करते कि ये सब चीज़ें हज़म नहीं होंगी। उल्टे कहेंगे नोना लगा है! किसी प्रकार उन सब लोगों को शहरिया बनना ही पड़ेगा।

खाने पीने के सम्बन्ध में मोटी बातें तो तुम लोगों ने सुनी। इस समय पाश्चात्य देशवासी क्या खाते हैं और उनके आहार में क्रमशः कैसा परिवर्तन हुआ है, वह भी अब हम देखेंगे!

पाश्चात्य लोगों का आहार।

गरीबी अवस्था में सभी देशों का खाद्य विशेषकर अन्न ही रहता है। साग-तरकारी मछली-मांस भोग-विलास में शामिल हैं और चटनी की तरह व्यवहृत होती हैं। जिस देश में जिस अन्न की पैदावार अधिक होती है, वहाँ के गरीबों का वही भोजन है, दूसरी सब चीज़ें प्रासंगिक हैं। बंगाल, उड़ीसा, मद्रास और मलाबार के किनारे पर भात ही प्रधान खाद्य है। उसके साथ में कभी कभी दाल, तरकारी, मछली, मांस आदि चटनी की तरह खाया जाता है।

भारतवर्ष के अन्यान्य सब प्रदेशों में सम्पन्न लोगों का भोजन गेहूं की रोटी और भात है। सर्वसाधारण नाना प्रकार के अन्न, बाजरा, महुआ, ज्वार, मकई आदि की रोटियाँ खाते हैं।

साग-तरकारी-दाल, मछली-मांस आदि सारे भारतवर्ष में इसी रोटी या भात को स्वादिष्ट बनाने के लिए व्यवहार में आते हैं, इसीलिए उनका नाम व्यञ्जन पड़ा है। पंजाब, राजपूताना और

दक्षिण में सम्पन्न लोग यद्यपि प्रति दिन मांस खाते हैं फिर भी उनका प्रधान खाद्य रोटी या भात ही है। जो व्यक्ति आध सेर मांस रोज खाता है, वह अवश्य ही उसके साथ एक सेर रोटी खाता है।

पाश्चात्य देशों में गरीब प्रदेशों तथा धनी देशों के गरीब लोगों का प्रधान भोजन रोटी और आलू ही है। मांस तो चटनी की तरह कभी कभी मिल जाता है। स्पेन, पुर्तुगाल, इटली आदि उष्ण प्रधान देशों में अंगूर अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है और अंगूरी शराब बड़ी सस्ती मिलती है। उन शराबों में नशा नहीं होता (अर्थात् जब तक कोई बहुत ज्यादा न पी ले तब तक उसे नशा न होगा) और वह बहुत पुष्टिकर खाद्य है। उन देशों के गरीब लोग मछली-मांस की जगह पर इसी अंगूर के रस से मजबूत होते हैं। रूस, स्वेडन, नार्वे प्रभृति उत्तरी देशों में गरीब लोगों का प्रधान आहार है 'राई' नामक अन्न की रोटी और एक आध टुकड़ा मछली या आलू। यूरोप के धनी लोग और अमेरिका के लड़के बूढ़े सभी दूसरे ही तरह का खाना खाते हैं। अर्थात उनका खाद्य मछली-मांस, रोटी-भात तथा चटनी-आचार आदि और और चीजें हैं। अमेरिका में रोटी नहीं खाई जाती, ऐसा कहने से भी चल सकता है। निरा मांस ही परोसा जाता है, फिर खाली मछली परोसी जाती है—भात रोटी के साथ नहीं। इसलिए हर बार थाली बदलनी पड़ती है। यदि दस खाने की चीजें हैं, तो दस बार थाली बदलनी होगी। जैसे मान लो हमारे देश में पहले सिर्फ खिचड़ी परोसी गई, फिर थाली को बदलकर सिर्फ दाल परोसी गई, फिर थाली बदलकर सिर्फ रसदार तरकारी परोसी गई, फिर थाली बदलकर थोड़ासा भात या दो पुरियाँ इत्यादि। उसका

लाभ यही है कि बहुतसी चीजें थोड़ी थोड़ी खाई जाती हैं। पेट में बोझा भी कम होता है। फ्रांसीसियों की चाल है—सबेरे कॉफी के साथ एक दो टुकड़ा रोटी और मक्खन खाना। मध्यम श्रेणी के लोग दोपहर में मछली-मांस आदि खाते हैं। रात में लम्बा भोजन होता है। इटली, स्पेन प्रभृति देशों में रहने वाली जातियों का भोजन फ्रांसीसियों जैसा ही है। जर्मनी वाले पाँच छः बार में बहुत ज्यादा खाते हैं, प्रत्येक बार थोड़ा मांस जरूर रहता है। अंग्रेज तीन बार खाते हैं, सबेरे थोड़ासा, किन्तु बीच बीच में कॉफी या चाय पीते रहते हैं। अमेरिकन लोग तीन बार अच्छा खाना खाते हैं, जिसमें मांस अधिक रहता है। फिर भी इन सभी देशों में 'डिनर' (Dinner) नामक भोजन ही प्रधान होता है। अमीरों के यहाँ फ्रांसीसी रसोईदारिन रहती है और फ्रांसीसी पद्धति से खाना बनाया जाता है। पहले एक आध नमकीन मछली या मछली का अण्डा या कोई चटनी या तरकारी खाते हैं। इसके खाने से भूख बढ़ती है। इसके बाद हरी साग, इसके बाद आजकल एक फल खाने का फैशन हो गया है। इसके बाद मछली, मछली के बाद मांस की एक तरकारी, फिर भूना हुआ मांस, साथ में कच्ची सब्जी, इसके बाद जंगली मांस जैसे हिरन, पक्षी आदि, इसके अनन्तर मिष्टान्न, अन्त में कुल्फी। बस मधुरेण समापयेत्। धनी लोगों के यहाँ हर बार थाली बदलने के साथ में शराब भी बदली जाती है। सेरी, क्लोरेट, शैमपियन आदि शराब दी जाती है, बीच बीच में शराब की एक आध कुल्फी भी होती है। थाल बदलने के साथ में काटा चम्मच भी बदला जाता है। भोजन के अन्त में बिना दूध की 'कॉफी' पीते हैं, बीच बीच

में शराब का प्याला और सिगार। भोजन के प्रकार के साथ ही साथ शराब की विभिन्नता से बड़े और छोटे की पहचान होती है। इनके डिनर में इतना अधिक खर्च होता है कि उससे हमारे यहाँ के मध्यम श्रेणी के मनुष्य का तो सर्वनाश ही हो जायगा!

आर्य लोग पल्थी मारकर एक पीढ़े पर बैठते थे और टेकने के लिए उनके पीछे एक पीढ़ा रखा जाता था। एक छोटी चौकी पर थाल रखकर, एक थाल में ही सब कुछ खा लेते थे। यह चाल इस समय भी पंजाब, राजपूताना, महाराष्ट्र और गुजरात में मौजूद है। बंगाली, उड़िया, तेलंगी और मलबारी जमीन पर ही बैठकर भोजन करते हैं। मैसूर के महाराज भी जमीन पर भात दाल खाते हैं। मुसलमान चद्दर बिछाकर खाते हैं। बर्मी, जापानी आदि ऊँचे पर बैठकर जमीन पर थाल रखकर खाते हैं। चीन वाले कुर्सी पर बैठकर टेबल पर खाना रख काँटा चम्मच से खाते हैं। रोमन तथा ग्रीक लोग कोच में सोकर और खाना टेबल पर रखकर खाते हैं। पहले यूरोपीय कुर्सी पर बैठकर और टेबल पर सामग्री रखकर हाथ से खाते थे; पर अब काँटे चम्मच से खाते हैं।

चीनियों का भोजन सचमुच एक कसरत है। हमारे देश में जैसे पानवाली लोहे के पत्तर के दो टुकड़े से पान तरासती है, उसी प्रकार चीनी दोनों हाथों में लकड़ी के दो टुकड़े अपनी हथेली और अंगुलियों के बीच में चिमचे की तरह पकड़ते हैं और उसी से तरकारी आदि खाते हैं। फिर दोनों को एकत्र कर एक कटोरी में भात मुँह के पास लाकर उन्हीं दोनों के सहारे उस भात को ठेल-ठेलकर मुँह में डालते हैं।

सब जातियों के आदिम पुरुष जो पाते थे, वही खाते थे। एक जानवर को मारकर उसे एक महीने तक खाते थे, सड़ जाने पर भी नहीं छोड़ते थे! धीरे धीरे लोग सभ्य हो गये। खेती बारी होने लगी। जंगली जानवरों की तरह एक दिन खूब खाकर चार पाँच दिन भूखे रहने की प्रथा उठ गई। रोज भोजन मिलने लगा, फिर भी बासी और सड़ी वस्तुओं का खाना नहीं छूटा। पहले सड़ी गली चीज़ें आवश्यक भोजन थीं, पर अब वे चटनी अचार के रूप में नैमित्तिक भोजन हो गई हैं।

एस्किमो जाति बर्फ में रहती है। वहाँ अनाज बिलकुल नहीं पैदा होता। वहाँ रोज का खाना मछली और मांस ही है। दस पन्द्रह दिन में अरुचि होने से एक टुकड़ा सड़ा मांस खाकर अरुचि मिटाते हैं।

यूरोपियन इस समय भी जंगली जानवरों और पक्षियों का मांस बिना सड़ाये नहीं खाते। ताजा मिलने पर भी उसे तब तक लटका कर रख देते हैं, जब तक सड़कर बदबू न निकलने लगे। कलकत्ते में हिरन का सड़ा मांस ज्योंही आता है त्योंही बेच दिया जाता है। लोग कुछ मछलियों को थोड़ा सड़ जाने पर पसन्द करते हैं। अंग्रेजों की पनीर जितनी सड़ेगी, उसमें जितने कीड़े पड़ेंगे, वह उतनी ही अच्छी होगी। पनीर का कीड़ा यदि भागता हो तो उसे पकड़कर मुँह में डाल लेते हैं और वह बड़ा स्वादिष्ट होता है! निरामिष होकर भी प्याज लहसुन के लिए किटकिटाते हैं। दक्षिणी ब्राह्मणों का प्याज, लहसुन के बिना खाना ही नहीं होता! शास्त्रकारों ने वह

रास्ता भी बन्द कर दिया है। प्याज, लहसुन, मुर्गी और मांस खाने से जाति का सर्वनाश होता है, यह हिन्दू शास्त्रों का कहना है! कुछ लोगों ने डरकर इन्हें छोड़ दिया, पर उससे भी बुरी गन्धयुक्त हींग खाना आरम्भ किया। पहाड़ी हिन्दुओं ने प्याज-लहसुन की जगह पर एक प्रकार की घास खाना आरम्भ किया। इन दोनों का निषेध तो शास्त्रों में कहीं नहीं है!!

आहार सम्बन्धी विधि-निषेध का तात्पर्य।

सभी धर्मों में खाने-पीने के सम्बन्ध में एक विधि-निषेध है। केवल ईसाई धर्म में कुछ नहीं है। जैन और बौद्ध मछली-मांस नहीं खाते। जैन लोग जमीन के नीचे पैदा होने वाली चीजें जैसे आलू आदि भी नहीं खाते, क्योंकि खोदने से कीड़े मरेंगे। रात को भी नहीं खाते क्योंकि अंधकार में शायद कीड़े खा जायँ।

यहूदी लोग उस मछली को नहीं खाते जिसमें 'चोयंटा' नहीं होता और सूअर भी नहीं खाते। जो जानवर दो खुर वाला नहीं है और जो जुगाली नहीं करता, उसे भी नहीं खाते। सबसे बड़ी बात तो यह है कि दूध या दूध से बनी हुई कोई चीज़ यदि रसोई में चली जाय और यदि उस समय कहीं मछली या मांस पकता हो तो उस रसोई को ही फेंक देना होगा। इसीलिए कट्टर यहूदी लोग किसी दूसरी जाति के मनुष्य के हाथ का पकाया नहीं खाते। हिन्दुओं की तरह यहूदी भी व्यर्थ ही मांस नहीं खाते। जैसे बंगाल और पंजाब में मांस को महाप्रसाद कहते हैं उसी तरह यहूदी लोग नियमानुसार बलिदान न होने से मांस नहीं खाते हैं। हिन्दुओं की

तरह यहूदियों को भी किसी भी दूकान से मांस खरीदने का अधिकार नहीं है। मुसलमान भी यहूदियों के अनेक नियम मानते हैं, पर इतना परहेज नहीं करते। बस दूध-मांस और मछली एक साथ नहीं खाते। छुआछूत होने से ही सर्वनाश हो जाता है, इसे वे नहीं मानते। हिन्दुओं और यहूदियों में भोजन सम्बन्धी बहुत सादृश्य हैं। फिर भी यहूदी जंगली सूअर नहीं खाते, पर हिन्दू खाते हैं। पंजाब के हिन्दू-मुसलमानों में सूअर को लेकर भयंकर वैमनस्य है। जंगली सूअर हिन्दुओं का आवश्यक खाद्य हो गया है। राजपूतों में जंगली सूअर का शिकार करके खाना एक धर्म माना जाता है। दक्षिण में ब्राह्मण को छोड़कर दूसरी जातियों में मामूली सूअर का खाना भी जायज़ है। हिन्दू जंगली मुर्गा-मुर्गी खाते हैं, पर पालतू मुर्गा-मुर्गी नहीं खाते। बंगाल से लेकर नेपाल और काश्मीर-हिमालय तक एक ही प्रथा है। मनु की कही हुई खाने की प्रथा आज तक उस अञ्चल में किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

किन्तु बंगाली, बिहारी, युक्त प्रदेशीय और नैपालियों की अपेक्षा कुमाऊँ से लेकर काश्मीर तक मनु के नियमों का विशेष प्रचार है। जैसे बंगाली मुर्गी या उसका अण्डा नहीं खाते, किन्तु हंस का अण्डा खाते हैं, वैसा ही नैपाली भी करते हैं! किन्तु कुमाऊँ में यह भी जायज़ नहीं है। काश्मीरी जंगली हंस के अण्डे को बड़े मज़े से खाते हैं, पर घरेलू हंस के अण्डे नहीं खाते।

इलाहाबाद के उधर हिमालय को छोड़कर भारतवर्ष के अन्य सभी प्रान्तों में जो लोग बकरे का मांस खाते हैं वे मुर्गी भी खाते हैं।

इन विधि-निषेधों में अधिकांश स्वास्थ्य के लिए ही है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु सब जगह समान नहीं हो सकता। घरेलू मुर्गी कुछ भी खा लेती है और बहुत गन्दी रहती है, इसीलिए उसे खाने का निषेध किया गया है। पर जगली जानवर क्या खाते हैं, कहो कौन उसे देखने जाता है? इसके अलावा जंगली जानवरों को रोग कम होता है।

पेट में अम्ल की अधिकता होने पर दूध किसी तरह पचता ही नहीं, यहाँ तक कि कभी कभी एक ग्लास दूध पी लेने से फौरन मृत्यु हो जाती है। जैसे बच्चे माता का दूध पीते हैं वैसे ही ठहर ठहर कर दूध पीना चाहिये, इससे वह जल्दी हज़म होता है, नहीं तो बहुत देर लगती है। दूध बहुत देर में हज़म होने वाली चीज़ है, मांस के साथ में तो वह और भी देर में हज़म होता है। इसीलिए यहूदियों ने इसका निषेध किया है। नासमझ माताएँ छोटे बच्चों को जबरदस्ती दूध पिलाती हैं और दो चार महीने के बाद सिर पर हाथ रखकर रोती हैं! आजकल डाक्टर लोग नौजवान आदमियों के लिए भी एक पाव दूध आध घंटे में धीरे धीरे पीने का परामर्श देते हैं। छोटे बच्चों के लिए फीडिंग बोतल (Feeding bottle) के सिवा कोई दूसरा रास्ता ही नहीं है। माँ काम में लगी रहती है इसलिए दाई रोते हुए बच्चे को अपनी गोद में लेती है और अकसर उसे अपने दोनों जंघों में दबाती है और चमचे में दूध भरकर जितना उसके मुँह में ठूँस सकती है, ठूँस देती है! नतीजा यह होता है कि अकसर बच्चे को ज़िगर की बीमारियाँ हो जाती है और उसकी बाढ़ रुक जाती है! उसी दूध से उसका अन्त होता है! जिनमें इस

प्रकार के भयंकर खाद्य से बचने की शक्ति होती है, वे ही स्वस्थ और बलिष्ठ होते हैं।

पुराने सौरी घरों और इस प्रकार दूध पिलाने पर भी जो बच्चे बच जाते हैं वे केवल भाग्यवश ही आजीवन स्वस्थ और बलवान रहते हैं। माता षष्ठी की साक्षात् अनुकम्पा न होने पर क्या इन गहरी परीक्षाओं में बच्चों का जीवन रहता ? और हमारी उन पुरानी सौर की कोठरियों को, बच्चे को दी जाने वाली सेंक को तथा उसी प्रकार के अन्य गँवारू उपचारों को तो सोचो; इनमें से जीते जागते बचकर निकल आना प्रसूती और प्रसूत बच्चे दोनों के लिए ही मानो बड़े भाग्य की बात है ! प्राचीनों का विश्वास था कि मनौती मानकर तुलसी चौरा की मिट्टी आदि खिलाने से बच्चा और उसकी माँ बच जाती है और फिर साक्षात् यमराज के दूत—चिकित्सकों के हाथ में उन्हें नहीं पड़ना पड़ता।

कपड़े में सभ्यता।

सभी देशों में ओढ़ने-पहनने के ढंग के साथ कुछ न कुछ भद्रता का सम्पर्क अवश्य है। वेतन न जानकर भले बुरे की पहचान कैसे होगी ? केवल वेतन ही क्यों, बिना कपड़ा देखे भले बुरे की पहचान कैसे होगी ? सभी देशों में किसी न किसी रूप में ये बातें प्रचलित हैं। अब हमारे देश में भले आदमी नंगे बदन रास्ते में नहीं निकल सकते, भारतवर्ष के दूसरे प्रदेशों में माथे पर बिना पगड़ी पहने कोई रास्ते में नहीं निकल सकता।

यूरोप में अन्यान्य देशों की अपेक्षा फ्रांसीसी सब विषयों में

आगे हैं। उनके भोजन आदि की सब नकल करते हैं। इस समय भी यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में तरह तरह की पोशाकें मौजूद हैं। किन्तु भले आदमी होने से ही—दो पैसा पास में होने ही से—वह पोशाक गायब हो जाती है और फ्रांसीसी पोशाक का आविर्भाव हो जाता है। काबुली पायजामा पहनने वाले हॉलैंड के कृषक, घाघरा पहनने वाले ग्रीक, तिब्बती पोशाक पसन्द करने वाले रूसी ज्योंही 'जेण्टिलमैन' बने, त्योंही उन्होंने फ्रांसीसी कोट पतलून धारण कर लिया। स्त्रियों की तो कुछ बात ही नहीं, पास में पैसा होते ही उन्हें तो पेरिस का कपड़ा पहनना ही पड़ेगा। अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रान्स और जर्मनी इस समय धनी देश समझे जाते हैं; उन सभी देशों की पोशाक एक तरह की है—वह फ्रान्स की नकल है। लेकिन आजकल पेरिस की अपेक्षा लन्दन के आदमियों की पोशाक अधिक अच्छी होती है। इसीसे पुरुषों की पोशाक 'लण्डन मेड' और स्त्रियों की पोशाकें 'पेरिस मेड' होती हैं। जिनके पास पैसा है वे इन दोनों स्थानों की बनी पोशाकें बारहों मास व्यवहार करते हैं। अमेरिका में विदेशों से आई हुई पोशाकों पर बहुत ज्यादा चुंगी ली जाती है, किन्तु उतनी अधिक चुंगी देकर भी पेरिस और लन्दन की पोशाक पहननी ही पड़ती है। यह काम केवल अमेरिका ही कर सकता है; इस समय अमेरिका में कुबेर का प्रधान अड्डा है।

प्राचीन आर्य लोग धोती, चादर पहनते थे; लड़ाई के समय क्षत्रियों में पायजामा और अंगा पहनने का चलन था, बाकी समय सभी धोती चादर; किन्तु पगड़ी सभी पहनते थे। बहुत प्राचीन काल में भारतीय स्त्रियाँ भी पगड़ी पहनती थीं। इस समय बंगाल

को छोड़कर अन्यान्य प्रदेशों में केवल लंगोटी से ही शरीर को ढकने का काम चल जाता है, किन्तु पगड़ी का पहनना अत्यावश्यक है। बौद्धकालीन जो पत्थर की मूर्तियाँ मिलती हैं उनमें स्त्रियाँ भी केवल लंगोटी ही पहने रहती हैं। बुद्ध के पिताजी लंगोटी लगाकर सिंहासन पर बैठे हैं, उसी प्रकार उनकी माँ भी बैठी हैं। विशेषता केवल यही है कि पैरभर में पैजनी और हाथभर में कड़ा है। पर पगड़ी जरूर है। धर्मसम्राट अशोक धोती पहन और गले में दुपट्टा डाल नंगे बदन एक डमरू के आकार वाले सिंहासन पर बैठकर नाच देखते थे। नर्तकियाँ सर्वथा नंगी रहती थीं। कमर से कितने ही चिथड़े लटकते थे, फिर भी पगड़ी थी! जो कुछ था सब पगड़ी में! किन्तु राज सामंत लोग चुस्त पायजामा और लंबी अचकन पहनते थे। सारथी नलराज ने इस प्रकार रथ चलाया कि राजा ऋतुपर्ण की चादर न जाने कहाँ उड़ गई और राजा ऋतुपर्ण नंगे बदन ही विवाह करने गये। धोती चादर आर्य लोगों की पुरानी पोशाक थी, इसीलिए क्रिया-कर्म के समय धोती चादर पहननी पड़ती है।

प्राचीन ग्रीक और रोमन लोगों की पोशाक थी धोती चादर। वहाँ एक थान कपड़ा जो धोती और चादर दोनों का काम देता था 'तोगा' कहलाता था; उसीका अपभ्रंश आज 'चोगा' है, किन्तु कभी कभी एक अंगा भी पहनते थे। लड़ाई के समय लोग पायजामा और अचकन पहनते थे। स्त्रियों का एक खूब लम्बा, चौड़ा चौकोर कपड़ा रहता था, जो दो बिछौनों की चादरों को लम्बाई के बल सीकर और चौड़ाई की ओर खुला छोड़कर बनता था। उसके बीच से कमर को दो बार बांधते हैं—एक बार कमर के नीचे और दूसरी

बार पेट के नीचे, इसके बाद ऊपर खुले हुए उस कपड़े के दोनों सिरों को दोनों हाथों के ऊपर दो जगह किसी प्रकार अटका लेते हैं जैसे उत्तरा-खण्ड की स्त्रियाँ कम्बल पहनती हैं। यह पोशाक बहुत सुन्दर और सहज है, ऊपर एक चादर रहती है।

प्राचीन काल से केवल ईरानी ही काटे हुए कपड़ों को पहनते हैं। जान पड़ता है, शायद इसे उन लोगों ने चीनियों से सीखा था। चीनी लोग सभ्यता अर्थात् भोग-विलास, सुख-स्वच्छन्दता के आदि गुरु हैं। अनादि काल से चीनी टेबल पर खाते हैं, कुर्सी पर बैठते हैं, खाने के लिए कितने यन्त्र तन्त्र रखते हैं, कई प्रकार की सिली पोशाकें पहनते हैं जिनमें पायजामा, टोपी, टोप आदि होते हैं।

सिकन्दरशाह ने ईरान को जीता, उन्होंने धोती चादर छोड़कर पायजामा पहनना आरम्भ कर दिया, इससे उनकी स्वदेशी सेना इतनी बिगड़ गई कि विद्रोह जैसा हो गया, किन्तु सिकन्दर ने कुछ परवाह न कर पायजामों का प्रचार कर ही दिया।

गरम देशों में कपड़े की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती। लंगोटी से ही लज्जा निवारण हो जाती है, बाकी सब तो शोभा मात्र है। ठंडे देशों में सदा लोग शीत से पीड़ित होकर अस्थिर रहते हैं, असभ्य अवस्था में वे जानवरों की खाल पहना करते थे; क्रमशः कम्बल पहनने लगे और फिर कपड़ों की बारी आई; वे कई प्रकार के होने लगे! इसके बाद नंगे बदन पर गहना पहनने से तो मृत्यु हो सकती थी, इसलिए यह अलंकारप्रियता कपड़ों में जा छिपी। जिस प्रकार हमारे देश में गहनों का फैशन बदलता है उसी प्रकार इन लोगों का कपड़े का फैशन भी घड़ी घड़ी बदलता रहता है।

इसीलिए ठंडे देशों में बिना सर्वांग कपड़े से ढके किसी के सामने निकलना असभ्यता है। खास कर विलायत में ठीक ठीक पोशाक पहने बिना घर के बाहर जाया ही नहीं जा सकता। पाश्चात्य देशों में स्त्रियों का पांव दिखाई पड़ना लज्जा की बात है, किन्तु गला और हृदय का कुछ हिस्सा भले ही खुला रह जाय। हमारे देश में मुँह दिखाना बड़ी लज्जा की बात है, किन्तु घूँघट काढ़ने में साड़ी चाहे पीठ पर से हट जाय तो कुछ हर्ज नहीं। राजपूताना और हिमालय की स्त्रियाँ मुँह ढाँके रहती हैं, चाहे पेट और पीठ भले ही दिख जायँ।

पाश्चात्य देशों में नर्तकियाँ और वेश्यायें आकर्षित करने के लिए बिना शरीर ढके रहती हैं। वे नाचते-गाते समय शरीर के वस्त्र उघाड़ कर दिखलाती हैं। हमारे देश में भले घर की स्त्रियाँ भी नंगे बदन रह सकती हैं, पर वेश्यायें अपना सारा शरीर ढाँके रहती हैं। पाश्चात्य देशों की स्त्रियाँ सदा शरीर ढाँके रहती हैं, शरीर खुला रखने से अधिक आकर्षण होता है। हमारे देश में सदा नंगे बदन रहा जाता है, पोशाक पहनने से ही अधिक आकर्षण होता है। मलाबार में स्त्रियाँ कौपीन के ऊपर एक छोटी धोती पहनती हैं और दूसरा कोई वस्त्र नहीं रहता, बंगालियों का भी वही हाल है, किन्तु कौपीन नहीं रहता और स्त्रियाँ पुरुषों के सामने खूब अच्छी तरह शरीर को ढाँकती हैं।

पाश्चात्य देशों में पुरुष पुरुषों के सामने बेरोक नंगे हो जाते हैं, जैसे हमारे देश में स्त्रियाँ, स्त्रियों के सामने। वहाँ लड़का बाप के सामने विवस्त्र होकर स्नान करे तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु स्त्रियों के

सामने या रास्ते में निकलते समय अथवा अपने घर को छोड़कर किसी दूसरे स्थान पर सारा शरीर ढका रहना ही चाहिये।

एक चीन को छोड़कर अन्य सभी देशों में इस लज्जा के सम्बन्ध में बड़े अद्भुत अद्भुत विषय देखने में आते हैं! किसी किसी विषय में बहुत ज्यादा लज्जा की जाती है, पर उसकी अपेक्षा अधिक लज्जा वाले विषयों में नाम मात्र को भी लज्जा नहीं की जाती। चीन में स्त्री-पुरुष सभी सदा सिर से पैर तक ढके रहते हैं। वहाँ बौद्ध मतावलम्बी नीति में बड़े कुशल हैं। खराब बातें या चालचलन होने से फौरन सजा दी जाती है। ईसाई पादरियों ने वहाँ जाकर चीनी भाषा में बाइबिल छपवा डाला। बाइबिल में ऐसे लज्जाजनक वर्णन हैं जो हिन्दुओं के पुराणों को भी मात कर देते हैं। उन अश्लील स्थलों को पढ़कर चीनी लोग इतने चिढ़ गये कि उन्होंने चीन में बाइबिल के प्रचार को रोकने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उन्होंने कहा, "यह इतनी अश्लील पुस्तक किसी तरह भी यहाँ नहीं चलाई जा सकती।" इसके ऊपर ईसाई पादरी-स्त्रियों का सायंकालीन पोशाक पहनना और भी आपत्तिजनक था। साधारण बुद्धि वाले चीन-निवासियों ने कहा, "सर्वनाश! इस खराब पुस्तक को पढ़कर और इन स्त्रियों का नंगा बदन देखकर हमारे लड़के खराब हो जाएंगे और धर्म का नाश हो जायगा।" इसीलिए चीनियों को ईसाइयों पर बहुत क्रोध आ गया, नहीं तो चीनी किसी धर्म के ऊपर आघात नहीं करते। सुनते हैं कि पादरियों ने इस समय उन अश्लील अंशों को हटाकर फिर बाइबिल छपवाया है, किन्तु इससे चीनी लोगों को और भी सन्देह हो गया है।

फिर पाश्चात्य देशों के विभिन्न प्रदेशों में लज्जा, घृणा आदि का तारतम्य है। अंग्रेजों और अमेरिका वालों के लिए वे एक प्रकार के हैं, फ्रांसीसियों के लिए वे दूसरी तरह के और जर्मन लोगों के लिए वे तीसरी तरह के हैं। रूसी और तिब्बती लोगों की बहुतसी बातें आपस में मिलती जुलती हैं, किन्तु तुर्कों का अपना अलग ही रस्मरिवाज़ है, इत्यादि।

हमारे देश की अपेक्षा यूरोप और अमेरिका में मलमूत्र के त्याग करने के बारे म भी बड़ी लज्जा है; हम लोग निरामिष-भोजी हैं, इसीलिए बहुत सा साग-पात खाते हैं। फिर हमारा देश भी खूब गरम है, एक सांस में एक लोटा जल पीने को चाहिये। भारत के पश्चिमी प्रान्तों के कृषक एक बार एक सेर सत्तू खाते हैं, फिर बार बार जब प्यास लगती है तो कुआँ का कुआँ साफ कर देते हैं! गर्मी में हम लोग प्यासों को पानी पिलाने के लिए पौशाले खोल देते हैं। इन्हीं कारणों से लोग बहुत बार लघुशंका करने के लिए बाध्य हो जाते हैं, क्योंकि दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। गाय के गोठ और घोड़े के अस्तबल की तुलना बाघ-सिंह के पिंजड़े स कीजिये, कुत्ते की तुलना बकरे से कीजिये। पाश्चात्य देशों का आहार मांसमय है, इसीलिए अल्प होता है। फिर देश ठंडा है, कह सकते हैं कि जल पीते ही नहीं। भले आदमी छोटे गिलास में थोड़ी शराब पीते हैं। फ्रांसीसी जल को पसन्द नहीं करते, उसे वे मेंढक का रस कहते हैं, भला वह कभी पिया जाता है? केवल अमेरिका-निवासी उसे अधिक परिमाण में पीते हैं, क्योंकि ग्रीष्मकाल में वहाँ अत्यन्त गर्मी पड़ती है। न्यूयार्क

चाल-चलन।

कलकत्ता की अपेक्षा अधिक गरम है। जर्मन लोग भी बहुत 'बीयर' पीते हैं, पर भोजन के साथ नहीं।

ठंडे देश में सर्दी लगने की सदा सम्भावना रहती है, गरम देश में भोजन के साथ बार बार जल पीना पड़ता है। इसलिए हिचकी या डकार का आना अनिवार्य सा है। पर विलायती लोग इसे बेअदबी समझते हैं। भोजन करते समय उनका रूमाल में भड़भड़ करना तो सभ्यता में दाखिल है, उससे उनको नाम मात्र की घृणा नहीं होती। हमारे देश में जब तक डकार न आवे तब तक यजमान या मेहमान प्रसन्न ही नहीं होता! किन्तु पाँच आदमियों में बैठकर नाक छिनकने में कैसा होगा?

इंग्लैण्ड और अमेरिका में स्त्रियों के सामने मलमूत्र का नाम भी नहीं लिया जा सकता। छिपकर पायखाना जाना पड़ता है। पट की गर्मी या और किसी प्रकार की बीमारी की बात स्त्रियों के सामने नहीं कही जा सकती। हाँ, बूढ़ों की बात अलग है। स्त्रियाँ मलमूत्र को रोककर चाहे मर जायँ, पर पुरुषों के सामने उसका नाम भी न लेंगी।

फ्रांस में इतना नहीं है। स्त्रियों और पुरुषों के पेशाबखाने और पायखाने प्रायः पास ही पास होते हैं। स्त्रियाँ एक रास्ते से जाती हैं और पुरुष दूसरे रास्ते से। बहुत जगहों में तो रास्ते भी एक ही हैं, केवल स्थान अलग अलग हैं। रास्ते के दोनों ओर बीच बीच में पेशाबखाने हैं जिनमें केवल पीठ आड़ में रहती है। उसमें लज्जा नहीं समझी जाती। अवश्य ही स्त्रियाँ ऐसे खुले स्थानों में नहीं

जातीं। जर्मनी वालों में तो और भी कम। स्त्रियों के सामने अंग्रेज और अमेरिकन बातचीत में भी बहुत सावधान रहते हैं। वहाँ पैर का नाम तक लेना असभ्यता है। हम लोगों की तरह फ्रांसीसियों का मुँह खुला रहता है। जर्मन और रूसी सब के सामने भद्दा मज़ाक करते हैं।

लेकिन प्रणय-प्रेम की बातें बेरोक सबके सामने—यहाँ तक कि माँ बेटी से, बाप बेटे से, भाई बहन से कह सकता है। वहाँ इस विषय में कुछ लज्जा नहीं है। बाप अपनी बेटी के प्रणयी (भविष्यत् पति) के बारे में नाना प्रकार की बातें ठट्टा करके स्वयं अपनी कन्या से पूछता है। फ्रांसीसी कन्यायें उसे सुनकर मुँह नीचा कर लेती हैं। अंग्रेज कन्यायें लजा जाती हैं, किन्तु अमेरिकन कन्यायें चटपट जवाब देती हैं। विलायत में चुम्बन और आलिङ्गन तक में कोई दोष नहीं समझा जाता, वह अश्लील भी नहीं समझा जाता। सभ्य समाज में इनके बारे में बातें की जा सकती हैं। अमेरिकन परिवार में आत्मीय पुरुष घर की युवती कन्या को हाथ मिलाने के बदले चुम्बन करता है। हमारे देश में प्रेम-प्रणय का नाम भी बड़ों के सामने नहीं लिया जा सकता।

इनके पास बहुत रुपया है। अधिक परिष्कार और बहुत सुन्दर वस्त्र न पहनने वाला झट छोटा आदमी समझ लिया जाता है और वह समाज में सम्मिलित होने के योग्य नहीं समझा जाता। भले आदमियों को दिन में दो तीन बार धुली कमीज़ कालर आदि बदलना पड़ता है। गरीब इतना नहीं कर सकते। ऊपर के वस्त्र में

एक दाग या धब्बा रहने से बड़ी मुश्किल होती है। नाखून के कोने या हाथ पैर में ज़रा भी मैल रहने से मुश्किल होती है। चाहे गर्मी से घबराकर जान निकली जाती हो, किन्तु घर के बाहर निकलते समय दस्ताना पहनना अनिवार्य है। अन्यथा रास्ते में हाथ मैला हो जायगा और उस मैले हाथ को किसी स्त्री के हाथ में रखकर स्वागत करना असभ्यता है। सभ्य समाज में बैठकर खाँसना, खखारना, हाथ मुँह धोना और कुल्ला करना महा पाप है।

पाश्चात्य देश-वासियों का धर्म शक्तिपूजा है।

शक्तिपूजा ही पाश्चात्य धर्म है। वामाचारियों की स्त्रीपूजा की तरह वे भी पूजा करते हैं। जैसा कि तन्त्र में कहा है—"बाईं ओर स्त्री........दाहिनी ओर शराब का प्याला ....सामने मसालेदार गरम गरम मांस........ तान्त्रिकों का धर्म बहुत गहन है, योगी भी उसे नहीं समझ सकते।" यही वामाचार शक्ति-पूजा आमतौर पर प्रकाश्य रूप से सर्वसाधारण में प्रचलित है। इसमें मातृ-भाव की मात्रा यथेष्ट है। यूरोप में प्रोटेस्टण्ट तो नगण्य हैं—धर्म तो कैथलिकों का ही है। उस धर्म में जिहोवा, ईसू और त्रिमूर्ति आदि भी दब गये हैं, सब का आसन 'माँ' ने ग्रहण किया है—ईसू को गोद में लिए हुए माँ! लाखों स्थानों में, लाखों किस्म से, लाख रूपों में, बड़े मकानों में, मन्दिरों में, सड़कों में, फूस की झोपड़ी में—सब कहीं बस 'माँ' की ही ध्वनि है। बादशाह 'माँ' पुकारता है, सेनापति 'माँ' पुकारता है, हाथ में झण्डा लिए हुए सैनिक पुकारता है—'माँ'; जहाज़ पर मल्लाह पुकारता है—'माँ'; फटा पुराना कपड़ा पहने मछुआ पुकारता है—'माँ'; रास्ते के एक कोने में पड़ा हुआ

भिखारी पुकारता है—'माँ;' 'धन्य मेरी !' 'धन्य मेरी !' दिन रात यही ध्वनि उठता है ।

इसके बाद स्त्री-पूजा है। यह शक्ति-पूजा केवल कामवासना-मय नहीं है। यह शक्ति-पूजा कुमारी-सधवा-पूजा है, जैसी हमारे देश में काशी, कालीघाट प्रभृति तीर्थ-स्थानों म होती है; यह काल्पनिक नहीं, वास्तविक शक्ति-पूजा है। किन्तु हम लोगों की पूजा इन तीर्थ-स्थानों में ही होती है और सिर्फ क्षणभर के लिए; पर इन लोगों की पूजा दिन रात बारहों महीने चलती है। पहले स्त्रियों का आसन होता है। पहले स्त्रियों का कपड़ा, गहना, भोजन, उच्च स्थान, आदर और खातिर। शरीफ खानदान की और रूपवती युवतियों की तो बात ही क्या है। यह शक्ति-पूजा प्रत्येक स्त्री की पूजा है, चाहे परिचित हो या अपरिचित। इस शक्ति-पूजा को पहले पहल यूरोप में मूर लोगों ने आरम्भ किया था—मूर मुसलमान और अरब जाति के मिश्रित हैं। जिस समय उन लोगों ने स्पेन को जीता था, उस समय उन्होंने आठ शताब्दियों तक राज्य किया था। उसी समय यह शक्ति-पूजा प्रारम्भ हुई थी। उन्हीं के द्वारा यूरोपीय सभ्यता का उन्मेष हुआ और शक्ति-पूजा का आविर्भाव। कुछ समय के अनन्तर मूर लोग इस शक्ति-पूजा को भूल गये, इसलिए वे शक्तिहीन और श्रीहीन हो गये। वे स्थानच्युत होकर आफ्रिका के एक कोने में असभ्यावस्था में रहने लगे और उस शक्ति का सञ्चार हुआ यूरोप में; मुसलमानों को छोड़कर 'माँ' ईसाइयों के घर में जा विराजीं।

यह यूरोप क्या है? क्यों एशिया, अफ्रीका और अमेरिका के

काले, भूरे, पीले और लाल निवासी यूरोप-निवासियों के पैरों पर गिरते हैं? क्यों कलियुग में यूरोप-निवासी ही एकमात्र शासनकर्ता हैं? इस यूरोप को समझने के लिए हमें पाश्चात्य धर्म से आकर फ्रांस की ओर जाना होगा। इस समय पृथ्वी का आधिपत्य यूरोप के हाथ में है और यूरोप का महा-केन्द्र पेरिस है। पाश्चात्य सभ्यता, रीति-नीति, प्रकाश-अंधकार, अच्छा-बुरा, सब की अन्तिम परिपुष्टि का भाव इसी पेरिस नगरी से प्रादुर्भूत होता है।

फ्रांस-पेरिस।

यह पेरिस नगरी एक महासमुद्र है! मणि, मोती, मूंगा आदि भी यहाँ यथेष्ट हैं और साथ ही मगर, घड़ियाल भी यहाँ बहुत हैं। यह फ्रांस ही यूरोप का धर्मक्षेत्र है। चीन के कुछ अंशों को छोड़कर इतना सुन्दर स्थान और कहीं नहीं है। न तो बहुत गरम और न तो बहुत ठंडा, बहुत उपजाऊ, न यहाँ अधिक पानी बरसता है और न कम पानी बरसने की भी शिकायत है। वह निर्मल आकाश, मीठी धूप, वनस्थली की शोभा, छोटे छोटे पहाड़, एल्म और ओक प्रभृति पेड़ों का बाहुल्य, छोटी छोटी नदियाँ, छोटे छोटे झरने, पृथ्वी-तल पर और कहाँ हैं? जल का वह रूप, स्थल की वह मोहकता, वायु की वह उन्मत्तता, आकाश का वह आनन्द और कहाँ मिलेगा? प्रकृति सुन्दर है, मनुष्य भी सौन्दर्यप्रिय है। बूढ़े-बच्चे, स्त्री-पुरुष, धनी-दरिद्र, उनका घर-द्वार, खेत-मैदान, आदि सभी साफ सुथरे और बनाचुनाकर सुन्दर किए हुए रहते हैं। एक जापान को छोड़कर यह भाव और कहीं नहीं है। वह अमरावती के गृह, अट्टालिकाओं का समूह, नन्दन कानन के सदृश उद्यान, उपवन, झाड़ियाँ और

कृषकों के खेत, सभी में एक ही रूप, एक ही सुन्दर छटा देखने का प्रयत्न है—और वे अपने इस प्रयत्न में सफल भी हुए हैं। यह फ्रांस प्राचीन समय से गौलिज (Gaulois), रोमन (Roman), फ्रांक (Franks) आदि जातियों की संघर्ष-भूमि रहा है। इसी फ्रांक जाति ने रोमन साम्राज्य का नाश करने के बाद यूरोप में आधिपत्य जमाया। इनके बादशाह शार्लिमान (Charlemagne) ने यूरोप में ईसाई धर्म का तलवार के बल पर प्रचार किया। इसी फ्रांक जाति के द्वारा एशिया में भी यूरोप का प्रचार हुआ—इसीलिए आज भी हम यूरोपवासियों को फिरंगी आदि नामों से सम्बोधित करते हैं।

सभ्यता के घर प्राचीन यूनानी लोग डूब गये, रोम के चक्रवर्ती राजा बर्बरों के आक्रमण-तरंग में सम्मिलित हो गये, यूरोप का प्रकाश बुझ गया, इधर एशिया में भी एक बर्बर जाति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे अरब कहते हैं। वह अरब-तरंग बड़े वेग से पृथ्वी को आच्छादित करने लगी। महाबली पारसी जाति अरबों के पैरों के नीचे दब गई। उसे मुसलमान धर्म ग्रहण करना पड़ा। किन्तु उसके प्रभाव से मुसलमान धर्म ने एक दूसरा ही रूप धारण किया। वह अरबी धर्म पारसी सभ्यता में सम्मिलित हो गया।

अरबों की तलवार के साथ साथ पारसी सभ्यता धीरे धीरे नष्ट होने लगी। वह पारसी सभ्यता प्राचीन यूनान और भारतवर्ष से ही ली हुई थी। पूर्व और पश्चिम दोनों ओर से बड़े वेग के साथ मुसलमान-तरंग ने यूरोप के ऊपर आघात किया, साथ ही साथ अंधकारपूर्ण यूरोप में ज्ञान रूपी प्रकाश फैलने लगा। प्राचीन यूना-

नियों की विद्या, बुद्धि, शिल्प आदि ने बर्बराक्रान्त इटली में प्रवेश किया। धरा-राजधानी रोम के मृत शरीर में प्राणस्पंदन होने लगा—उस स्पंदन ने फ्लोरेन्स (Florence) नगरी में प्रबल रूप धारण किया, प्राचीन इटली ने नव-जीवन धारण करना आरम्भ किया—इसी को नव-जन्म अर्थात् रेनेसेन्स (Renaissance) कहते हैं। किन्तु वह नव-जन्म इटली का था। यूरोप के दूसरे अंशों का उस समय प्रथम जन्म हुआ। ईसा की सोलहवीं शताब्दी में जब भारतवर्ष में अकबर, जहांगीर और शाहाजहां प्रभृति मुगल सम्राट राज्य करते थे, उसी समय यूरोप का नव-जन्म हुआ।

इटली वाले प्राचीन जाति के थे, एक बार जँभाई लेकर फिर करवट बदलकर सो गये। उस समय कई कारणों से भारतवर्ष भी कुछ कुछ जाग रहा था। अकबर से लेकर तीन पीढ़ी तक के मुगलराजत्व में विद्या, बुद्धि, शिल्प आदि का यथेष्ट आदर हुआ था। किन्तु अत्यन्त वृद्ध जाति होने के कारण वह फिर करवट बदलकर सो गई।

यूरोप में, इटली के पुनर्जन्म ने बलवान, अभिनव फ्रांक जाति को व्याप्त कर लिया। चारों ओर से सभ्यता की सब धाराओं ने आकर फ्लोरेन्स नगरी में एकत्रित हो नवीन रूप धारण किया। किन्तु इटली-निवासियों में उस वीर्य को धारण करने की शक्ति नहीं थी। भारतवर्ष की तरह वह उन्मेष उसी स्थान पर समाप्त हो जाता, किन्तु यूरोप के सौभाग्य से इस नवीन फ्रांक जाति ने आदरपूर्वक उस तेज को ग्रहण किया। नवीन रक्तसम्पन्न नवीन जाति ने उस

तरङ्ग में बड़े साहस के साथ अपनी नौका छोड़ दी। उस स्रोत का वेग क्रमशः बढ़ने लगा। वहाँ एक धारा सैकड़ों धाराओं में विभक्त होकर बढ़ने लगी। यूरोप की अन्यान्य जातियाँ लोलुप हो मेड़ काट-कर उस जल को अपने अपने देश में ल गईं और उसमें अपनी जीवनी-शक्ति सम्मिलित कर उसके वेग और विस्तार को और भी अधिक बढ़ा दिया, वह तरङ्ग फिर भारतवर्ष में आकर टकराई। वह तरङ्ग-लहरी जापान के किनारों पर जा पहुँची, और जापान उस जल को पान कर मत्त हो गया। एशिया में जापान ही नवीन जाति है।

यह पेरिस नगरी यूरोपीय सभ्यता की गङ्गोत्री है। यह विराट नगरी मृत्युलोक की अमरावती—सदानन्द नगरी है। पेरिस का भोग-विलास और आनन्द न लन्दन में है, न बर्लिन में और न यूरोप के किसी दूसरे शहर में। लन्दन, न्यूयार्क में धन है; बर्लिन में विद्या, बुद्धि यथेष्ट है, किन्तु न तो वहाँ फ्रांस की मिट्टी है और न हैं फ्रांस के वे निवासी! धन हो, विद्या-बुद्धि हो, प्राकृतिक सौन्दर्य भी हो— किन्तु वे मनुष्य कहाँ हैं? प्राचीन यूनानियों की मृत्यु के बाद इस अद्भुत फ्रांसीसी चरित्र का जन्म हुआ है। सदा आनन्द और उत्साह से भरे हुए, पर बड़े हल्के और फिर भी बहुत गम्भीर, सब कामों में उत्तेजित किन्तु बाधा पड़ने से ही निरुत्साहित; किन्तु वह नैराश्य फ्रांस के मुँह पर बहुत देर तक नहीं ठहरता, फिर नवीन उत्साह और विश्वास से वह चमक उठता है।

पेरिस के विश्वविद्यालय यूरोप के आदर्श विश्वविद्यालय हैं। दुनिया की जितनी वैज्ञानिक संस्थाएँ हैं वे सब फ्रांस की वैज्ञानिक

संस्थाओं की नक़ल है। फ्रांस ही ने दुनिया को औपनिवेशिक साम्राज्य-स्थापना की शिक्षा दी। सभी भाषाओं में अभी उस फ्रांसीसी भाषा के ही युद्ध सम्बन्धी शब्दों का व्यवहार होता है। फ्रांसीसियों की रचनाओं की नकल सभी यूरोपीय भाषाओं में हुई है। यह पेरिस नगरी ही दर्शन, विज्ञान और शिल्प की खान है। सभी स्थानों में इन्हीं की नकल हुई है।

पेरिस के रहने वाले मानो नागरिक हैं और उनकी तुलना में अन्य दूसरी जातियाँ ग्रामीण हैं। ये लोग जो करते हैं, उसीकी पचीस, पचास वर्ष पीछे जर्मन और अंग्रेज नक़ल करते हैं, चाहे वह विद्या सम्बन्धी हो, चाहे शिल्प सम्बन्धी हो अथवा सामाजिक नीति सम्बन्धी ही क्यों न हो। यह फ्रांसीसी सभ्यता स्काटलैण्ड पहुँची, वहाँ के राजा इङ्गलैण्ड के भी शासक हुए, तब इस फ्रांसीसी सभ्यता ने इङ्गलैण्ड को जगाकर छोड़ा। स्काटलैण्ड के स्टुअर्ट खानदान के शासन के समय ही इङ्गलैण्ड में रायल सोसाइटी आदि संस्थायें स्थापित हुईं।

पुन: फ्रांस ही स्वाधीनता का उद्गमस्थान है। इस पेरिस महानगरी से ही प्रजा-शक्ति ने बड़े वेग से उठकर यूरोप की जड़ को हिला दिया। उसी दिन से यूरोप का नया आकार हो गया। वह 'Liberte, Egalite, Fraternite' की ध्वनि अब फ्रांस में नहीं सुनाई पड़ती। फ्रांस अब दूसरे भावों, दूसरे उद्देश्यों का अनुसरण कर रहा है, किन्तु यूरोप की अन्यान्य जातियों में इस समय भी फ्रांसीसी विप्लव का यह भाव गूँज रहा है।

स्काटलैण्ड के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने उस दिन मुझसे कहा था कि पेरिस पृथ्वी का केन्द्र है। जो देश जिस अंश में पेरिस के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा, वह उसी परिमाण में उन्नत होगा। अवश्य ही इस बात में कुछ अतिरञ्जित सत्य है, किन्तु यह बात भी सत्य है कि यदि किसी को किसी नवीन भाव का संसार में प्रचार करना हो तो उसके लिए पेरिस ही उपयुक्त स्थान है। इस पेरिस नगरी से उठी हुई ध्वनि को यूरोप अवश्य ही प्रतिध्वनित करेगा। संगतराश, चित्रकार, गवैया, नर्तकी यदि पेरिस में प्रतिष्ठा पा जायँ, तो उन्हें अन्य दूसरे देशों में प्रतिष्ठा पाने में देर न लगेगी।

हमारे देश में इस पेरिस नगरी की बदनामी ही सुनी जाती है। हम सुनते हैं—पेरिस नगरी महा भयंकर, वेश्यापूर्ण और नरक-कुण्ड है। अवश्य ही अंग्रेज ये सब बातें कहते हैं। दूसरे देश के धनी लोग जिनकी दृष्टि में विषय-वासना तृप्ति के सिवाय दूसरा कुछ सुख है ही नहीं, स्वभावतः पेरिस में व्यभिचार और विषयवासना-तृप्ति का केन्द्र देखते हैं। किन्तु लन्दन, बर्लिन, वियना, न्यूयार्क आदि भी तो वारवनिताओं और भोगविलास से पूर्ण हैं। किन्तु अन्तर है कि दूसरे देशों की इन्द्रिय-चर्चा पशुवत् है, पर सभ्य पेरिस की मिट्टी भी सोने के पत्तों से ढकी है। अन्यान्य शहरों के पैशाचिक भोग के साथ पेरिस की विलासप्रियता की तुलना करना, मानो कीचड़ में लेटे हुए सूअर की उपमा नाचते हुए मोर से देना है।

कहो तो सही, भोग-विलास की इच्छा किस जाति में नहीं है?

यदि ऐसा नहीं है तो दुनिया में जिसके पास दो पैसा है, वह क्यों पेरिस की ही ओर दौड़ता है ? राजा, बादशाह अपना नाम बदलकर उस विलासकुण्ड में स्नान कर पवित्र होने क्यों जाते हैं ? इच्छा सभी देशों में है; उद्योग की त्रुटि भी किसी देश में कम नहीं देखी जाती। किन्तु भेद केवल इतना ही है कि पेरिस वाले सिद्धहस्त हो गये हैं, भोग करना जानते हैं, विलासप्रियता की सप्तम श्रेणी में पहुँच चुके हैं।

इतने पर भी अधिकतर भ्रष्ट नाच तमाशा विदेशियों के लिए ही वहाँ होता है, फ्रांसीसी बड़े सावधान होते हैं, वे फ़ज़ूल खर्च नहीं करते। यह घोर विलास, ये सब होटल और भोजन खाने की दूकानें—जिनमें एक बार खाने से ही सर्वनाश हो सकता है—विदेशी अहमक धनियों के लिए ही हैं। फ्रांसीसी बड़े सभ्य हैं, आदर सम्मान काफी है, सत्कार खूब करते हैं, सब पैसा बाहर निकाल लेते हैं और फिर मटक मटककर हँसते हैं।

इसके अलावा एक तमाशा यह है कि अमेरिका वालों, जर्मनी वालों और अंग्रेजों का समाज खुला है, विदेशी झाँककर सब कुछ देख सुनता है। दो चार दिन की ही बात-चीत में अमेरिका वाले अपने घर में दस दिन रहने के लिए निमन्त्रण देते हैं, जर्मनी वाले भी ऐसे ही हैं, किन्तु अंग्रेज ज़रा देरी से करते हैं। फ्रांसीसियों का रिवाज इस सम्बन्ध में बहुत भिन्न है; अत्यन्त परिचित हुए बिना वे लोग परिवार में आकर रहने का कभी निमन्त्रण नहीं देते। किन्तु जब विदेशियों को इस प्रकार की सुविधा मिलती है—फ्रांसीसी

परिवार को उन्हें देखने और समझने का मौका मिलता है—तब एक सरी ही धारणा हो जाती है। कहो तो, मछुआ बाजार देखकर अनेक विदेशीय जो हमारे जातीय चरित्र के सम्बन्ध में धारणा करते हैं वह कितना अहमकपन है? वही बात पेरिस की भी है। अविवाहिता लड़कियाँ वहाँ भी हमारे ही देश की तरह सुरक्षित हैं, वे अकसर समाज में मिल नहीं सकतीं। विवाह के बाद वे अपने स्वामी के साथ समाज में मिलती जुलती हैं। हमारी तरह, विवाह की बातचीत माता-पिता ही तय करते हैं। ये लोग मौज-पसन्द हैं, इनका कोई भी बड़ा सामाजिक काम नर्तकी के नाच के बिना पूरा नहीं हो सकता। हम लोगों के विवाह में भी तो कहीं कहीं नाच होता है। अंग्रेज कुहासापूर्ण अंधेरे देश में रहते हैं, इसलिए वे सदा निरानन्दमय ही रहते हैं। उनकी दृष्टि में नाच बहुत अश्लील चीज़ है, पर थियेटर में नाच होने में कोई दोष नहीं। इस सम्बन्ध में यह बात भी सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि इनके नाच चाहे हमारी दृष्टि में कितने ही अश्लील क्यों न जँचें, पर वे उससे चिर परिचित हैं। नाच में नर्तकी का कन्धा और गला खुला रहता है, पर यह ठीक नहीं समझा जाता। अंग्रेज और अमेरिकन ऐसे नाच देखने में कोई हर्ज नहीं समझते, पर घर लौटकर इस पर टीका टिप्पणी करने से भी बाज नहीं आते।

स्त्री सम्बन्धी आचार।

स्त्री सम्बन्धी आचार पृथ्वी के सभी देशों में एक ही प्रकार का है अर्थात् किसी पुरुष का दूसरी स्त्री के साथ संपर्क रहना बड़ा अपराध नहीं है, पर स्त्रियों के लिए यह भयंकर रूप धारण करता है। फ्रांसीसी इस विषय मे

ज़रा स्वतंत्र हैं, दूसरे देशों के धनी लोग जिस प्रकार इस सम्बन्ध में लापरवाह हैं, वैसे ही यूरोपीय पुरुष समाज साधारणतः उस विषय को इतना निन्दनीय नहीं समझता। पाश्चात्य देशों में अविवाहिता के सम्बन्ध में भी यही बात है। युवक विद्यार्थी यदि इस विषय में पूर्णतः विरत हो तो अनेक समय उसके माँ-बाप इसे खराब समझते हैं, क्योंकि पीछे बालक कहीं जनखा न हो जाय। पाश्चात्य देशों के पुरुषों में एक गुण अवश्य चाहिए, वह है—साहस। इन लोगों का Virtue शब्द और हमारा 'वीरत्व' एक ही अर्थ रखता है। इस शब्द के इतिहास को देखिए कि ये लोग पुरुष का गुण किसे कहते हैं। स्त्रियों के लिए सतीत्व आवश्यक समझा जाता है सही।

इन सब बातों के कहने का उद्देश यह है कि प्रत्येक जाति का एक नैतिक जीवनोद्देश्य है। उसीसे उस जाति की रीति-नीति का विचार करना होगा। अपने नेत्रों से इनका अवलोकन करना और इनके नेत्रों से अपना अवलोकन करना दोनों ही भूल है।

हमारा उद्देश्य इस विषय में इनके उद्देश्य से ठीक उल्टा है। हमारा 'ब्रह्मचारी (विद्यार्थी)' शब्द और कामजयित्व एक ही है। विद्यार्थी और कामाजित् एक ही बात है।

हमारा उद्देश्य मोक्ष है। कहो तो सही, वह बिना ब्रह्मचर्य के कैसे होगा? इनका उद्देश्य भोग है, उसमें ब्रह्मचर्य की उतनी आवश्यकता नहीं है। किन्तु स्त्रियों का सतीत्व नाश होने से बाल-बच्चे पैदा नहीं होते और सारी जाति का नाश होता है। यदि पुरुष

अपना सौ विवाह करले तो उसमें उतनी कोई आपत्ति नहीं है, वरन् वंश की वृद्धि खूब होगी; किन्तु यदि स्त्री बहु पति ग्रहण करें तो उसमें वन्ध्यात्व आजाना अनिवार्य है। इसीलिए सभी देशों में स्त्रियों के सतीत्व पर विशेष ज़ोर दिया गया है, पुरुषों के लिए कुछ नहीं। जैसे—

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति। गीता, ३—३३

हम फिर भी यही कहते हैं कि ऐसा शहर भूमण्डल पर और दूसरा नहीं है। पहले यह एक दूसरे ही प्रकार का था, ठीक काशी के हमारे बंगाली टोला की तरह! गली और रास्ते टेढ़े मेढ़े थे; बीच बीच में दो घर गली के ऊपर पाट कर एक में एक मिलाये हुए थे, कुएँ दीवालों में थे, इसी प्रकार और भी बातें—गत प्रदर्शनी में उन लोगों ने प्राचीन पेरिस का एक नमूना दिखाया था। वह पुराना पेरिस कहाँ गया? क्रमशः बदलते हुए, लड़ाई विद्रोह के कारण कितने ही अंश मटियामेट हो गये थे। फिर साफ़ सुथरा पेरिस उसी स्थान पर बसा है।

वर्तमान पेरिस का अधिकांश तीसरे नेपोलियन का तैयार किया हुआ है। तीसरा नेपोलियन मारकाट मचाकर बादशाह बना था। फ्रांसीसी उसी प्रथम विप्लव के समय से अस्थिर हैं; कारण प्रजा को सुखी रखने के लिए बादशाह लोग गरीबों को काम देकर प्रसन्न करने के अभिप्राय से बड़ी बड़ी सड़कें, नाट्यशालाएँ, घाट आदि बनवाने लगे। अवश्य ही पेरिस के सारे प्राचीन मन्दिर, स्तंभ आदि स्मारक स्वरूप कायम रह गये। रास्ते, घाट सब नये बन गये। पुराने

शहर के मकान और इमारतें तोड़कर शहर की चौहद्दी बढ़ाई जाने लगी और पृथ्वी की सर्वोत्तम सड़क यहाँ पर तैयार हुई। यह रास्ता इतना चौड़ा है कि इसके बीच में और दोनों तरफ बगीचा है और एक जगह पर इतना बड़ा गोलाकार है कि उसका नाम Place de la concorde पड़ गया है। इसके चारों ओर समानान्तर पर मूर्तियाँ हैं जो फ्रांस के प्रत्येक जिले की स्त्रियों की प्रतिमूर्ति है। उनमें एक मूर्ति Strasburg जिले की मूर्ति है। इस जिले को जर्मनी वालों ने १८७२ की लड़ाई में अपने आधीन कर लिया, इस दुःख को फ्रांस वाले आज भी नहीं भूल सके हैं। इसीलिए वह मूर्ति सदा फूल-मालाओं से ढकी रहती है। जैसे लोग अपने आत्मीय स्वजन की कब्र के ऊपर फूल-माला चढ़ा आते हैं, उसी प्रकार कोई न कोई रात या दिन में उस मूर्ति पर फूल-माला डाल आता है।

ऐसा अनुमान होता है कि दिल्ली का चांदनी चौक भी किसी समय इसी स्थान की भाँति था। जगह जगह पर जयस्तंभ, विजय-तोरण, स्त्री-पुरुष, सिंह आदि की पत्थर की मूर्तियाँ हैं। महावीर प्रथम नेपोलियन का एक बहुत बड़ा धातुनिर्मित विजय-स्तम्भ है; उस पर चारों ओर नेपोलियन के समय की लड़ाइयाँ अंकित हैं। उसमें एक स्थान पर प्राचीन बास्तिल (Bastille) किले के ध्वंस के स्मारक हैं। उस समय राजाओं का एकाधिपत्य था, किसी को भी वे जेल में ठूँस देते थे। कोई विचार नहीं था, राजा एक आज्ञा लिख देता था, इस आज्ञा का नाम था Lettre de Cachet। इसके बाद उस व्यक्ति ने कोई अपराध किया है या नहीं, दोषी है या निर्दोष, इस पर विचार ही नहीं होता था, और एक बारगी ले

जाकर बास्तिल में डाल दिया जाता था। उस स्थान से फिर कोई निकल नहीं सकता था। राजा की प्रणयिनियाँ यदि किसी के ऊपर नाराज़ होतीं, तो राजा से इसी आज्ञा-मुद्रा को लेकर उस व्यक्ति को बास्तिल में भेज देती थीं। आखिरकार इन अत्याचारों से प्रजा के लोग एक बार पागल हो उठे। व्यक्तिगत स्वाधीनता, सब समान, कोई भी छोटा बड़ा नहीं—यही ध्वनि सब ओर से आने लगी। पेरिस के लोगों ने पागल होकर राजा और रानी के ऊपर आक्रमण कर दिया। उस समय पहले मनुष्य के घोर अत्याचार का स्मारक बास्तिल का नाश किया गया और एक रात वहाँ खूब नाच गाना, आमोद-प्रमोद आदि होता रहा। इसके बाद जब राजा भागे जाते थे, उन्हें पकड़ लिया गया। 'राजा के श्वसुर, आस्ट्रिया के बादशाह अपने जामाता की सहायता के लिये सेना भेज रहे हैं,' यह सुनकर प्रजा इतनी क्रोधान्ध हो गई कि उसने राजा और रानी को मार डाला। सारे देशवासी स्वाधीनता और समता के नाम पर पागल हो पड़े, फ्रांस में प्रजातन्त्र स्थापित हो गया। मुसाहबों में जो जो पकड़े गये, मार डाले गये। कोई कोई तो उपाधि आदि फेंककर प्रजा में मिल गये। उन लोगों ने सारे फ्रांस में यही ध्वनि गुँजा दी कि 'हे दुनिया भर के लोगो! उठो; समस्त अत्याचारी राजाओं को मार डालो, सब प्रजा स्वाधीन बन जायँ, सब लोग समान हो जायँ।' उस समय यूरोप के सभी राजा भय से अस्थिर हो गये। इस डर से कि यह आग बाद को कहीं अपने देश में भी न लग जाय, सिंहासन को भी न डगमगा दे, इसलिए उसे बुझाने के अभिप्राय से वे लोग कमर कसकर चारों ओर से फ्रांस पर आक्रमण करने लगे। इधर प्रजातन्त्र के

नेताओं ने घोषणा कर दी कि 'जन्म-भूमि पर विपद है'। इस घोषणा की आग से सारा देश दहक उठा। बच्चा-बूढ़ा, स्त्री-पुरुष फ्रांस का राष्ट्रीय गीत—La Marseillaise—गाते हुए, उत्साह-पूर्ण फ्रांस के महागीत को गाते हुए, दल के दल, फटे कपड़े पहने हुए, उस जाड़े में नंगे पाँव, बिना कुछ भोजन का सामान लिये, फ्रांसीसी प्रजा-फौज समग्र यूरोप की विराट सेना के सामने आ डटी। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, सभी के कन्धे पर बन्दूक थी—परित्राणाय.... विनाशाय च दुष्कृताम्—सब निकल पड़े। सारा यूरोप उस वेग को नहीं सह सका। फ्रांसीसी जाति के आगे सैन्यों के कन्धों पर खड़े होकर एक वीर ने महा सिंहनाद किया। उसकी उंगली को देखते ही पृथ्वी काँपने लगी; वह था नेपोलियन बोनापार्ट।

स्वाधीनता, समानता और भ्रातृत्व को बन्दूक की नली से, तलवार की धार से यूरोप की अस्थिमज्जा में प्रविष्ट करा दिया गया। फ्रांस की विजय हुई। इसके बाद फ्रांस को दृढ़बद्ध और सावयव बनाने के लिए नेपोलियन बादशाह बना। इसके बाद उसका कार्य समाप्त हुआ। बालबच्चा न होने के कारण सुख-दुख की संगिनी, भाग्यलक्ष्मी राज्ञी जोसेफिन का उसने त्याग कर दिया और आस्ट्रिया की राजकन्या के साथ शादी कर ली। जोसेफिन का त्याग करने से नेपोलियन का भाग्य उलट गया। रूस जीतने को जाते समय उसकी सारी फौज बर्फ में गलकर मर गई। यूरोप ने मौका पाकर उसे कैद कर एक द्वीपान्तर में भेज दिया। अब पुराने राजा का एक वंशधर तख्त पर बैठाया गया।

जख्मी सिंह उस द्वीप से भागकर फिर फ्रांस में आ उपस्थित

हुआ। फ्रांसीसियों ने फिर उसे अपना राजा बनाया। नया राजा भाग गया। किन्तु टूटी हुई किस्मत जुट न सकी, फिर यूरोप उस पर टूट पड़ा और उसको हरा दिया। नेपोलियन अंग्रेजों के एक जहाज़ में चढ़कर शरणागत हुआ। अंग्रेजों ने उसे सेन्ट हेलेना नामक एक सुदूर द्वीप में मृत्यु के समय तक कैद रखा। फिर पुराना राजवंश आया, उस खानदान का एक व्यक्ति राजा बनाया गया। फिर फ्रांस के लोग मतवाले हो गये। राजा को मारकर फिर प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। महावीर नेपोलियन के एक सम्बन्धी इस समय फ्रांसीसियों के प्रिय पात्र हुए। उन्होंने एक दिन षड़यन्त्र करके अपने को राजा घोषित किया, वे थे तीसरे नेपोलियन। कुछ दिनों तक उनका खूब प्रताप रहा। किन्तु जर्मनी की लड़ाई में हारकर उनका सिंहासन चला गया और प्रजातन्त्र प्रतिष्ठित हुआ। उस समय से अब तक वहाँ प्रजातन्त्र चल रहा है।

भारतवर्षी सभी सम्प्रदायों की मूलभित्तिस्वरूप परिणामवाद।

जो परिणामवाद (Evolution Theory) भारत के प्रायः सभी सम्प्रदायों की मूल भित्ति है, उसने इस समय यूरोपीय बहिर्विज्ञान में प्रवेश किया है। भारत के सिवाय अन्यत्र सभी देशों के धर्मों का यही मत था कि समस्त संसार टुकड़ा टुकड़ा अलग है। ईश्वर भी अलग है, प्रकृति अलग है, मनुष्य अलग है, इसी प्रकार पशु, पक्षी, कीट, पतंग, पेड़, पत्ता, मिट्टी, पत्थर, धातु आदि, सब अलग हैं। भगवान ने इसी प्रकार सब अलग अलग करके सृष्टि की है।

ज्ञान का अर्थ है—बहुतों के भीतर एक को देखना। जो

वस्तुएँ अलग अलग हैं, जिनमें अन्तर मालूम होता है, उनमें भी एक ऐक्य है। वह विशेष सम्बन्ध जिससे मनुष्य को इस एकत्व का पता लगता है, 'नियम' कहलाता है। इसी को प्राकृतिक नियम भी कहते हैं।

हम पहले ही कह आये हैं कि हमारी विद्या, बुद्धि और चिन्ता सभी आध्यात्मिक हैं। सभी का विकास धर्म के भीतर है और पाश्चात्यों में ये सारे विकास बाहर, शरीर और समाज में हैं। भारतवर्ष के चिन्तनशील मनीषी क्रमशः समझ गये थे कि इन चीज़ों को अलग अलग मानना भूल है। अलग होते हुए भी उन सब में एक सम्बन्ध है। मिट्टी, पत्थर, पेड़, पत्ता, जीव, जन्तु, मनुष्य, देवता, यहाँ तक कि स्वयं ईश्वर में भी ऐक्य है। अद्वैतवादी इसकी चरम सीमा पर पहुँच गये। उन्होंने कहा यह सब कुछ उसी एक का विकास है। सचमुच यह अध्यात्म और अधिभूत जगत् एक ही है, उसीका नाम ब्रह्म है और जो अलग अलग मालूम पड़ता है वह भूल है। वही माया, अविद्या अर्थात् अज्ञान है। यही ज्ञान की चरम सीमा है।

भारतवर्ष की बात छोड़ दो, यदि विदेश में कोई इस बात को नहीं समझ सकता तो कहो उसे पण्डित कैसे समझें? किन्तु उनके अधिकांश पण्डित लोग इसे समझ रहे हैं, पर अपने ही तरीके से—जड़ विज्ञान द्वारा। वह एक कैसे अनेक हो गया, यह बात न तो हम लोग ही समझ सकते हैं और न वे लोग ही। हम लोगों ने भी यह सिद्धान्त बना लिया है कि वह विषय-बुद्धि के परे है और उन लोगों ने भी वैसा ही किया है। वह एक कौन कौनसा रूप धारण करता है,

किस प्रकार जातित्व और व्यक्तित्व में परिणत होता है, यह बात समझ में नहीं आती और इसी खोज का नाम विज्ञान है।

इसीलिए तो इस देश के प्रायः सभी लोग परिणामवादी (Evolutionist) बने हुए हैं। जैसे छोटा पशु समय पा बदलकर बड़ा पशु हो जाता है, कभी बड़ा जानवर छोटा भी हो जाता है, कभी लुप्त भी हो जाता है, इसी प्रकार मनुष्य भी सभ्य अवस्था में ही एकाएक पैदा हुआ, इस बात पर अब कोई बड़ा आदमी विश्वास नहीं करता, कारण विशेष-कर इनके बाप-दादा थोड़े दिन पहले असभ्य जंगली थे। अब इतने कम दिनों में ही वे लोग सभ्य हो गये हैं। इसीलिए वे लोग कहते हैं कि सभी मनुष्य क्रमशः असभ्य अवस्था से सभ्य हुए हैं और हो रहे हैं। आदिम मनुष्य काठ पत्थर के यन्त्र द्वारा काम चलाते थे; चमड़ा या पत्ता पहनकर दिन बिताते थे; पहाड़ की गुफाओं में या चिड़ियों के घोसले की तरह झोपड़ियों में गुज़र करते थे; इसका प्रमाण सभी देशों में मिलता है; और कहीं तो अभी भी मनुष्य उसी अवस्था में मौजूद हैं। क्रमशः मनुष्य ने धातु का व्यवहार करना सीखा। उन नरम धातुओं का नाम टीन और तांबा था। इन दोनों को मिलाकर वे औजार और अस्त्र-शस्त्र बनाने लगे। प्राचीन यूनानी, बेबीलोन और मिश्र-निवासी भी बहुत दिनों तक लोहे का व्यवहार नहीं जानते थे। जब वे पहले की अपेक्षा सभ्य हो गये तो पुस्तक आदि लिखने लगे, सोना-चांदी का व्यवहार करने लगे, परन्तु तब तक वे लोह का व्यवहार नहीं जानते थे। अमेरिका महाद्वीप के आदिम निवासियों में मेक्सिको, पेरु, माया आदि जातियाँ दूसरों से सभ्य थीं। वे बड़े

पाश्चात्य मत से समाज का क्रमविकास।

बड़े मन्दिर बनाता थीं। सोना चांदी का उनमें खूब व्यवहार था, यहाँ तक कि सोने चांदी के लालच से स्पेन वालों ने उनका नाश कर डाला। किन्तु वे सब काम चकमक पत्थर के औजारों द्वारा बड़े परिश्रम से किए जाते थे। लोहे का कहीं नाम निशान भी नहीं था।

आरम्भ में मनुष्य शिकारी थे।

आदिम अवस्था में मनुष्य तीर, धनुष या जाल आदि के द्वारा पशु, पक्षी या मछली मारकर खाता था। क्रमशः उसने खेतीबारी करना और पशु पालना सीखा। जंगली जानवरों को अपने अधिकार में लाकर अपना काम कराने लगा। गाय, बैल, घोड़ा, सूअर, हाथी, ऊंट, भेड़, बकरी, मुर्गी आदि मनुष्य के घर में पाले जाने लगे। इनमें कुत्ते मनुष्य के आदिम दोस्त थे।

फिर कृषक जीवन।

इसके बाद खेतीबारी आरम्भ हुई। जो फल-फूल, साग-सबज़ी, गेहूं, चावल मनुष्य आज कल खाता है उन चीज़ों की आदिम जंगली अवस्था बहुत भिन्न थी। बाद को मनुष्यों के अध्यवसाय से वे ही वस्तुएँ अनेक सुखदायक पदार्थ बन गईं। प्रकृति में तो दिन रात परिवर्तन होता ही रहता है। नाना प्रकार के पेड़ पौधे पैदा होते रहते हैं; पशु पक्षी के शरीर-संसर्ग से, देश-काल के परिवर्तन से, नई नई जातियों की सृष्टि होती रहती है। इस प्रकार मनुष्य की सृष्टि के पूर्व प्रकृति धीरे धीरे पेड़-पौधों तथा दूसरे पशुओं में परिवर्तन करती थी, पर मनुष्य की सृष्टि होते ही उसने ज़ोर से परिवर्तन आरम्भ कर दिया। मनुष्य एक देश के पौधे और जीव-जन्तुओं को दूसरे देश में ले

जाने लगा और उनके परस्पर मिश्रण से कई प्रकार के नये जीव-जन्तु, पेड़-पौधों की जातियाँ मनुष्य द्वारा उत्पन्न की जाने लगीं।

विवाह का आदि तत्व।

आदिम अवस्था में विवाह की पद्धति नहीं थी। धीरे धीरे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। पहले सब समाजों में वैवाहिक सम्बन्ध माता के ऊपर निर्भर रहता था। पिता का कोई निश्चय नहीं था। माता के नाम के अनुसार बाल-बच्चों का नाम होता था। सारी सम्पत्ति स्त्रियों के हाथ में रहती थी। वे ही बाल-बच्चों का लालन पालन करती थीं। क्रमशः सम्पत्ति के पुरुषों के हाथ में चले जाने से स्त्रियाँ भी उन्हीं के हाथ में चली गईं। पुरुषों ने कहा, "जिस प्रकार यह धन-धान्य हमारा है, क्योंकि हमने खेतीबारी, लूटमार करके इसे पैदा किया है और इसमें यदि कोई हिस्सा लेना चाहे, तो हम उनका विरोध करेंगे, उसी प्रकार ये स्त्रियाँ भी हमारी हैं, यदि इन पर कोई हाथ डालेगा, तो विरोध होगा।" इस प्रकार वर्तमान विवाह-पद्धति का सूत्रपात हुआ। स्त्रियाँ भी गुलामों तथा बर्तनभाँड़े की तरह पुरुषों के अधिकार में आ गईं। प्राचीन रीति थी कि एक दल का पुरुष दूसरे दल की स्त्री के साथ ब्याह करता था। यह विवाह भी जबरदस्ती स्त्रियों को छीन लाकर होता था। क्रमशः यह पद्धति बदल गई और स्वयंवर की प्रथा प्रचलित हुई, किन्तु आज भी उन सब विषयों का थोड़ा थोड़ा आभास मिलता है। इस समय भी प्रायः सभी देशों में हम देखते हैं कि वर के ऊपर आक्रमण करने की नकल की जाती है। बंगाल

और यूरोप में वर के ऊपर चावल फेंका जाता है। पश्चिम में कन्या की सखियाँ बरातियों पर गाली गाकर आक्रमण करती हैं।

कृषिजीवी देवता तथा मृगयाजीवी असुरों का सम्बन्ध

समाज की सृष्टि होने लगी। देशभेद से ही समाज की सृष्टि हुई। समुद्र के किनारे जो लोग रहते थे वे अधिकांश मछली पकड़ कर अपना जीवन निर्वाह करते थे। जो समतल जमीन पर रहते थे, वे खेतीबारी करते थे; जो पर्वतों पर रहते थे, वे भेड़ चराते थे; जो बालू के मैदानों में रहते थे, वे बकरी और ऊंट चराते थे। कितने ही लोग जंगलों में रहकर शिकार करने लगे। जिन्होंने समतल जमीन पाकर खेतीबारी करना सीखा, वे पेट की ज्वाला से बहुत कुछ निश्चिन्त होकर विचार करने का अवकाश पाकर अधिकतर सभ्य होने लगे। किन्तु सभ्यता आने के साथ साथ शरीर दुर्बल होने लगा। जो दिन रात खुली हवा में रहकर अधिकतर मांस खाते थे, उनमें और जो घर के भीतर रहकर अधिकतर अनाज खाते थे, बहुत अन्तर होने लगा। शिकारी पशु पालने वालों, या मछली खाने वालों को जब कभी भोजन की कठिनाई पड़ती तभी वे समतल भूमि-निवासी कृषकों को लूटने लगते। समतल-निवासी आत्मरक्षा के लिए आपस में दल बाँधने लगे और इस प्रकार छोटे छोटे राज्यों की सृष्टि होने लगी।

देवताओं का भोजन अनाज होता था, वे सभ्य होते थे तथा ग्राम, नगर अथवा उद्यानों में वास करते थे और बुने हुए कपड़े पहनते थे; पर असुरों का वास पहाड़, पर्वत, मरुभूमि या समुद्र-तट

पर होता था, उनका भोजन जंगली जानवरों का मांस तथा जंगली फलमूल था और कपड़े थे बकरी के चमड़े अथवा अन्य कोई चीज़ जो इन चीज़ों के बदले में वे देवताओं से पा जाते थे। देवता लोग शरीर से कमजोर होते थे और उन्हें कष्ट बर्दाश्त नहीं था; असुरों का शरीर हृष्टपुष्ट था, वे उपवास करने और कष्ट सहने में बड़े पटु थे।

असुरों को भोजन का अभाव होते ही वे लोग दल बाँध पहाड़ से उतरकर या समुद्र के किनारे से आकर गाँव-नगरों को लूटते थे। वे कभी कभी धन-धान्य के लोभ से देवताओं पर भी आक्रमण कर बैठते थे। यदि बहुत से देवता एकत्रित न हो सकते थे, तो उनकी असुरों के हाथ से मृत्यु हो जाती थी। देवताओं की बुद्धि तेज़ थी, इसीलिए वे कई तरह के अस्त्र-शस्त्र तैयार करने लगे। ब्रह्मास्त्र, गरुड़ास्त्र, वैष्णवास्त्र, शैवास्त्र, ये सब देवताओं के अस्त्र थे। असुरों के अस्त्र तो साधारण थे, पर उनके शरीर में बल बहुत था। बारम्बार देवताओं को असुरों ने हरा दिया, पर वे सभ्य होना नहीं जानते थे। वे खेतीबारी भी नहीं कर सकते थे और न बुद्धि का ही प्रयोग कर सकते थे।

विजयी असुर यदि विजित देवताओं के स्वर्ग में राज्य करना चाहते थे तो वे देवताओं के बुद्धि-कौशल से थोड़े ही दिनों में देवताओं के दास बन जाते थे, नहीं तो असुर लूटमार कर अपने स्थान पर लौट जाते थे। देवता लोग जब एकत्रित होकर असुरों को मारते थे, उस समय या तो असुर लोग समुद्र में जा छिपते थे, या पहाड़ों अथवा जंगलों में। क्रमशः दोनों दल बढ़ने लगे। लाखों

देवता और असुर इकट्ठे होने लगे। अब महा संघर्ष, लड़ाई-झगड़े, जीत-हार होने लगी। इस प्रकार मनुष्यों के मिलने जुलने से वर्तमान समाज की सारी वर्तमान प्रथाओं की सृष्टि होने लगी, नाना प्रकार की नवीन भावनाओं की सृष्टि होने लगी तथा नाना प्रकार की विद्याओं की आलोचना आरम्भ हुई। एक दल के लोग काम में आनेवाली चीज़ें तैयार करने लगे—दूसरा दल हाथ से अथवा बुद्धि के द्वारा उन सब चीज़ों की रक्षा करने लगा। सब लोग मिलकर आपस में उन सब चीज़ों का विनिमय करने लगे और बीच में से एक उस्ताद दल एक स्थान की चीज़ों को दूसरे स्थान पर ले जाने का वेतन स्वरूप, सब चीज़ों का अधिकांश स्वयं हड़प करने लगा। एक दल खेती करता, दूसरा पहरा देता, एक दल बेचता तो दूसरा खरीदता। जिन लोगों ने खेतीबारी की उन्हें कुछ नहीं मिला, जिन लोगों ने पहरा दिया उन लोगों ने जुल्म करके कितने ही हिस्से ले लिये। अधिकांश व्यवसायी लोग ले लेते थे। खरीदकर देने वालों का नाम हुआ राजा; मुटिया का नाम पड़ा सौदागर। ये दोनों दल काम तो कुछ करते न थे, पर लाभ का अधिकांश इन्हीं लोगों को मिलता था। जो दल चीज़ें तैयार करता था, उसे तो बस पेट पर हाथ रखकर भगवान का नाम लेना पड़ता था।

दस्यु और वेश्याओं की उत्पत्ति।

क्रमशः इन सभी भावों के सम्मिश्रण से एक गांठ के ऊपर दूसरी गांठ पड़ती गई और इस प्रकार हमारे वर्तमान जटिल समाज की सृष्टि हुई। किन्तु पूर्व के चिह्न एक बारगी नष्ट नहीं हुए। जो लोग पहले भेड़ चराते थे, मछलिया पकड़कर खाते थे वे सभ्य होने पर लूट-

मार और चोरी करने लगे। पास में जंगल था नहीं कि वे लोग शिकार करते, पर्वत भी नहीं था कि भेड़ चराते—जन्म का रोजगार शिकार करना, भेड़ चराना या मछली पकड़ना किसी की सुविधा नहीं थी। इसीलिए यदि वे चोरी न करें, डाका न डालें, तो जायँ कहाँ? उन पूज्य प्रातःस्मरणीय स्त्रियों की कन्यायें अब एक साथ एक से अधिक पुरुष से ब्याह नहीं कर सकती थीं, इसीलिए उन लोगों ने वेश्यावृत्ति ग्रहण की। इस प्रकार भिन्न भिन्न ढंग के, भिन्न भिन्न भाव के सभ्य और असभ्य देवताओं और असुरों से उत्पन्न होकर मनुष्य-समाज की सृष्टि हुई। यही कारण है कि हम प्रत्येक समाज में देवताओं की विविध लीलाएँ देखते हैं—साधु नारायण और चोर नारायण इत्यादि। पुनः किसी समाज का चरित्र दैवी या आसुरी इन प्रकृतियों के लोगों की संख्या के अनुसार समझा जाने लगा।

प्राच्य और पाश्चात्य

जम्बूद्वीप की सारी सभ्यता का उद्भव समतल भूमि में बड़ी बड़ी नदियों के किनारे—यांगटिसीक्यांग, गंगा, सिन्धु और युफ्रेटीज़ के किनारे हुआ। इस सारी सभ्यता की आदि भित्ति खेतीबारी है। यह सारी सभ्यता देवता-सभ्यताओं की प्रधान है और यूरोप की सारी सभ्यता का उत्पत्ति-विभिन्न भित्तियाँ। स्थान या तो पहाड़ है अथवा समुद्रमय देश—चोर और डाकू ही इस सभ्यता की भित्ति हैं, इनमें आसुरी भाव अधिक है।

आजकल यदि देखा जाय तो जम्बूद्वीप के मध्यभाग और अरब की मरुभूमि में ही असुरों का प्रधान अड्डा था। इन स्थानों में इकट्ठे

होकर असुरों की सन्तान—चरवाहों और शिकारियों ने सभ्य देवताओं का पीछा करके उन्हें दुनिया में फैला दिया।

यूरोप खण्ड के आदिम निवासियों की एक विशेष जाति अवश्य पहले से ही थी। पर्वत की गुफाओं में इस जाति का निवास था और इस जाति के जो लोग अधिक बुद्धिमान थे वे थोड़े जल वाले तालाबों में मचान बाँधकर उन्हीं पर रहते और घरद्वार निर्माण करते थे। ये लोग अपने सारे काम चकमक पत्थर से बने तीर, भाले, चाकू, कुल्हाड़ी आदि से ही चलाते थे।

क्रमशः जम्बूद्वीप का नरस्रोत यूरोप के ऊपर गिरने लगा। कहीं कहीं अपेक्षाकृत सभ्य जातियों का अभ्युदय हुआ। रूस देश की

ग्रीक।

किसी किसी जाति की भाषा भारत की दक्षिणी भाषा से मिलती है, किन्तु ये जातियाँ बहुत दिनों तक अत्यन्त बर्बर अवस्था में रहीं। एशिया-माइनर के सभ्य लोगों का एक दल समीपवर्ती द्वीपों में जा पहुँचा। उसने यूरोप के निकटवर्ती स्थानों पर अपना अधिकार जमाया और अपनी बुद्धि तथा प्राचीन मिश्र की सहायता से एक अपूर्व सभ्यता की सृष्टि की। उन लोगों को हम यवन कहते हैं और यूरोपीय उन्हें ग्रीक नाम से पुकारते हैं।

इसके बाद इटली में रोमन नामक एक दूसरी बर्बर जाति ने इट्रस्कन (Etruscans) नाम की सभ्य जाति को हराया और

यूरोपीय जातियों की सृष्टि।

उसकी विद्या-बुद्धि का संग्रह कर स्वयं सभ्य हो गई। क्रमशः रोमन लोगों का चारों ओर अधिकार हो गया। यूरोप खण्ड के दक्षिण और पश्चिम भाग

के समस्त असभ्य लोग उनकी प्रजा बनी, केवल उत्तरी भाग में जंगली बर्बर जातियाँ ही स्वाधीन रहीं। काल के प्रभाव से रोमन लोग ऐश्वर्य, विलासपरता से दुर्बल होने लगे; उसी समय फिर जंबूद्वीप की असुर सेना ने यूरोप के ऊपर चढ़ाई की। असुरों की मार खाकर उत्तर यूरोपीय बर्बर जातियाँ रोमन साम्राज्य के ऊपर टूट पड़ीं, रोम का नाश हो गया। अब उन्हीं असुरों की ताड़ना से यूरोप की बर्बर जाति तथा नष्ट होने से बचे हुए रोमन और ग्रीक लोगों ने मिलकर एक अभिनव जाति की सृष्टि की। इसी समय यहूदी जाति रोम द्वारा विजित तथा विताड़ित यूरोप में फैल पड़ी। साथ ही उनका नवीन ईसाई धर्म भी यूरोप में फैल पड़ा। ये सब विभिन्न जातियाँ, सम्प्रदाय, विचार और नाना प्रकार के असुर रूपी पदार्थ महामाया के खप्पर में, रात-दिन की लड़ाई तथा मारकाट रूपी आग में गलकर मिल गये। इसीसे यूरोपीय जातियों की सृष्टि हुई।

हिन्दुओं का सा काला रंग, उत्तर प्रदेश का दूध की तरह सफेद रंग, काले, भूरे अथवा सफेद केश, काली, भूरी, नीली आँखें, खास हिन्दुओं की तरह नाक, मुँह और आँखें तथा चीनियों की तरह चपटे मुँह, इन सब आकृतियों से युक्त बर्बर—अतिबर्बर यूरोपीय जाति की उत्पत्ति हो गई। कुछ दिनों तक वे आपस में ही मारकाट करते रहे; उत्तर के डाकू मौका पाने पर अपने से जो सभ्य थे उनका नाश करने लगे। बीच में ईसाई धर्म के दो गुरु—इटली के पोप और पश्चिम में कांस्टन्टिनोपल शहर के पेट्रियार्क—इस पशुप्राय बर्बर जाति और उसके राजा रानी के ऊपर शासन करने लगे।

इस ओर अरब की मरुभूमि में मुसलमानी धर्म की उत्पत्ति हुई;

जंगली पशु के तुल्य अरबों ने एक महापुरुष की प्रेरणा से, अदम्य तेज और अनाहत बल से पृथ्वी के ऊपर आघात किया। पश्चिम-पूर्व के दो प्रान्तों से उस तरंग ने यूरोप में प्रवेश किया, उसी प्रवाह में भारत और प्राचीन ग्रीक की विद्या-बुद्धि यूरोप में प्रवेश करने लगी।

मुसलमानी धर्म।

जम्बूद्वीप के मध्यभाग से 'सेलमूल तातार' नाम की एक असुर जाति ने इस्लाम धर्म ग्रहण किया और उसने एशिया माइनर आदि स्थानों को अपने कब्जे में कर लिया। भारतवर्ष को जीतने की अनेक बार चेष्टा करने पर भी अरब लोग सफल न हो सके। मुसलमानी अभ्युदय सारी पृथ्वी को जीतकर भी भारतवर्ष के सामने कुण्ठित हो गया। उन लोगों ने एक बार सिन्धु देश पर आक्रमण किया था, पर उसे रख नहीं सके। इसके बाद फिर उन लोगों ने कोई यत्न नहीं किया।

मुसलमानों की भारत आदि पर विजय।

कई शताब्दियों के पश्चात् जब तुर्क आदि जातियाँ बौद्ध धर्म छोड़कर मुसलमान बन गईं तो उस समय इन तुर्कों ने सम भाव से हिन्दू, पारसी आदि सबको दास बना लिया। भारतवर्ष को जीतने वाले मुसलमान विजेताओं में एक दल भी अरबी या पारसी नहीं है, सभी तुर्की या तातारी हैं। सभी आगन्तुक मुसलमानों को राजपूताने में 'तुर्क' कहते हैं। यही सत्य और ऐतिहासिक वार्ता है। राजपूताने के चारण लोग गाते थे—"तुर्कन को अब बाढ़ रह्यो है ज़ोर।" कुतुबुद्दीन से लेकर मुगल बादशाहों तक सब तातार लोग

ही थे अर्थात् जिस जाति के तिब्बती थे, उसी जाति के। सिर्फ वे मुसलमान हो गये और हिन्दू, पारसियों से विवाह करके उनका चपटा मुँह बदल गया। यह वही प्राचीन असुर वंश है। आज भी काबुल, पर्शिया, अरब और कांस्टंटिनोपुल के सिंहासन पर बैठकर वे ही तातारी असुर राज करते हैं; गान्धारी, पारसी और अरबी उसकी गुलामी करते हैं। विराट चीन साम्राज्य भी उसी तातार मांचु के पैर के नीचे थे, पर उस मांचु ने अपना धर्म नहीं छोड़ा, वह मुसलमान नहीं बना। वह महालामा का चेला था। यह असुर जाति कभी भी विद्या-बुद्धि की चर्चा नहीं करती, केवल लड़ाई लड़ना ही जानती है। उस रक्त के सम्मिश्रण के बिना वीर प्रकृति का होना कठिन है। उत्तर यूरोप, विशेष कर रूसियों में उसी तातारी रक्त के कारण प्रबल वीर प्रकृति है। रूसियों में तीन हिस्सा तातारी रक्त है। देव और असुर की लड़ाई अभी भी बहुत दिनों तक चलती रहेगी। देवता असुर-कन्याओं से ब्याह करते हैं और असुर देव-कन्याओं को छीन ले जाते हैं, इसी प्रकार प्रबल वर्ण-सङ्करी जाति की सृष्टि होती है।

ईसाई और मुसलमानों की लड़ाई।

तातारों ने अरबी खलीफा का सिंहासन छीन लिया, ईसाइयों के महातीर्थ जेरुसेलम आदि स्थानों पर कब्जा कर ईसाइयों की तीर्थयात्रा बन्द कर दी तथा अनेक ईसाइयों को मार डाला। ईसाई धर्म के पोप लोग पागल हो गये। सारा यूरोप उनका चेला था। राजा और प्रजा को उन लोगों ने उभाड़ना शुरू किया। झुंड के झुंड यूरोपीय बर्बर जेरुसेलम के उद्धार के लिए एशिया माइनर की ओर चल पड़े!

कितने तो आपस में ही लड़ने लगे, कितने रोग से मर गये, बाकी को मुसलमानों ने मार डाला। वे घोर बर्बर फिर पागल हो गये—मुसलमान जितनों को मारते थे उतने ही फिर आ जाते थे। वे नितान्त जंगली थे। अपने ही दल को लूटते थे। खाना न मिलने के कारण उन लोगों ने मुसलमानों को पकड़कर खाना आरम्भ कर दिया। यह बात आज भी प्रसिद्ध है कि अंग्रेजों का राजा रिचर्ड मुसलमानों के मांस से बहुत प्रसन्न होता था।

जंगली मनुष्य और सभ्य मनुष्य की लड़ाई में जो होता है, वही हुआ—जेरुसेलम आदि पर अधिकार न हो सका। किन्तु

फलतः यूरोप में सभ्यता का प्रवेश।

यूरोप सभ्य होने लगा। वहाँ के चमड़ा पहनने वाले, पशु-मांस खाने वाले जंगली अंग्रेज, फ्रांस, जर्मन तथा एशिया आदि की सभ्यता सीखने लगे। इटली आदि की नागा फौजें दार्शनिक मत का अनुशीलन करने लगीं। ईसाइयों का नागा दल (Knight Templars) घोर अद्वैतवादी वेदान्ती बन गया। अन्त में वे लोग ईसाइयों की भी हँसी उड़ाने लगे। उक्त दल के पास धन भी बहुत सा इकट्ठा हो गया था, उस समय पोपों की आज्ञा से, धर्म-रक्षा के बहाने यूरोपीय राजाओं ने उन बेचारों को मारकर उनका धन लूट लिया।

इधर मूर नामक एक मुसलमान जाति ने स्पेन देश में एक अत्यन्त सभ्य राज्य की स्थापना की और वहाँ अनेक प्रकार की विद्याओं की चर्चा आरम्भ कर दी; फलतः पहले पहल यूरोप में युनिवर्सिटियों की सृष्टि हुई। इटली, फ्रांस और सुदूर इंग्लैण्ड से वहाँ

विद्यार्थी पढ़ने आने लगे। राजा-रजवाड़ों के लड़के युद्ध-विद्या, आचार, कायदा, सभ्यता आदि सीखने के लिए वहाँ आने लगे और घरद्वार, महल-मन्दिर सब नये ढंग से बनने लगे।

यूरोप की एक महासेना के रूप में परिणति।

किन्तु सारा यूरोप एक महासेना का निवासस्थान बन गया—वह भाव इस समय भी है। मुसलमान लोगों का एक देश जीत लेने पर राजा अपने लिए एक बड़ा टुकड़ा रखकर बाकी सेनापतियों में बाँट देता था। वे लोग राजा को मालगुज़ारी नहीं देते थे, किन्तु राजा को जितनी सेना की आवश्यकता पड़ती, मिल जाती थी। इस प्रकार प्रस्तुत फौज का झमेला न रखकर आवश्यकता पड़ने पर बहुत बड़ी सेना एकत्रित हो सकती थी। आज भी राजपुताने में यही भाव मौजूद है। इसे मुसलमान ही इस देश में लाये हैं। यूरोपवालों ने भी मुसलमानों से ही यह भाव लिया है। किन्तु मुसलमानों के यहाँ थे राजा, सामन्त और सैनिक, बाकी प्रजा। यूरोपवालों ने राजा, सामन्त और अफसरों को छोड़कर शेष प्रजा को एक तरह का गुलाम सा बना लिया। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी सामन्त का गुलाम बनकर ही जीवित रह सकता था। आज्ञा पाते ही उसे तैयार होकर लड़ाई के लिए निकल आना पड़ता था।

यूरोपीय सभ्यता-रूपी वस्त्र के उपादान।

यूरोपीय सभ्यता नामक वस्त्र के ये सब उपकरण हुए। एक शीतोष्णपहाड़ी समुद्र-तटमय प्रदेश तन्तु हुआ और सर्वदा युद्धप्रिय बलिष्ठ अनेक जातियों की समष्टि से पैदा हुई एक खिचड़ी जाति इसकी रुई हुई, इसका व्यवहार हुआ आत्मरक्षा और धर्मरक्षा के लिए

सर्वदा युद्ध करना। जो तलवार चला सकता है वही बड़ा हुआ और जो तलवार चलाना नहीं जानता वह स्वाधीनता का विसर्जन कर किसी वीर की छत्रछाया में रह, जीवन व्यतीत करने लगा। इस सभ्यता का साधन था—तलवार; सहायता—वीरत्व और उद्देश्य था—लौकिक सुखों का भोग करना।

हमारी सभ्यता शान्तिप्रिय है।

हमारी क्या बात है? आर्य लोग शान्तिप्रिय हैं, खेती बारी करते हैं और शान्ति से अनाज पैदा करते हैं। अपने परिवार का पालन पोषण मात्र कर देने से खुश हो जाते थे। उनके लिए सांस लेने का अवकाश यथेष्ट था, इसीलिए चिन्ताशील तथा सभ्य होने का अवकाश अधिक था। हमारे जनक राजा अपने हाथों से हल भी चलाते थे और उस समय के सर्वश्रेष्ठ आत्मविद् भी थे। यहाँ आरम्भ से ही ऋषि-मुनियों और योगियों आदि का अभ्युदय था। वे लोग आरंभ से ही जानते थे कि संसार मिथ्या है। लड़ना-झगड़ना बेकार है। जो भोग के नाम से पुकारा जाता है, उसकी प्राप्ति शान्ति में है और शान्ति है शारीरिक भोग के विसर्जन में; भोग है मनःशीलता में और बुद्धि-चर्चा में, किन्तु शरीर-चर्चा में नहीं। जंगलों को आबाद करना उनका काम था।

इसके बाद इस परिष्कृत भूमि में निर्मित हुई यज्ञ की वेदी और यज्ञ का धुआँ उठने लगा उस निर्मल आकाश में। उस हवा में वेद मंत्र प्रतिध्वनित होने लगे और गाय, बैल आदि पशु निःशङ्क चरने लगे। अब विद्या और धर्म के पैर के नीचे तलवार का स्थान हुआ। उसका काम सिर्फ धर्मरक्षा करना रह गया तथा मनुष्य और

गाय, बैल आदि पशुओं का परित्राण करना। वीरों का नाम पड़ा आपद्-त्राता-क्षत्रिय।

हल, तलवार आदि सबका अधिपति रक्षक हुआ—धर्म। वही राजाओं का राजा, जगत के सो जाने पर भी सदा जागृत रहता है। धर्म के आश्रय में सभी स्वाधीन रहते हैं।

यूरोपीय पण्डितों का यह कहना कि आर्य लोग कहीं से घूमते फिरते आकर भारत में जंगली जाति को मार काटकर और जमीन छीनकर स्वयं यहाँ बस गये केवल अहमकों की बात है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हमारे भारतीय विद्वान भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं और यही सब झूठी बातें हमारे बाल-बच्चों को पढ़ाई जाती हैं—यही भारी अन्याय है।

आर्यों द्वारा आदिम भारतीय जाति का विनाश यूरोपियनों का आधारहीन अनुमान मात्र है।

मैं स्वयं अल्पज्ञ हूँ, विद्वत्ता का मैं दावा नहीं करता; किन्तु जो समझता हूँ उसे ही लेकर मैंने पेरिस की काँग्रेस में इसका प्रतिवाद किया था। यूरोपीय एवं भारतीय विद्वानों से मैं कहता तथा आशा करता हूँ कि मौका आने पर मैं इस सिद्धान्त का पूरा प्रतिवाद करूँगा। यह मैं आप लोगों से और अपने पण्डितों से कहता हूँ कि अपनी पुस्तकों का अध्ययन करके इस समस्या का निर्णय कीजिए।

यूरोपियनों को जिस देश में मौका मिलता है, वहाँ के आदिम निवासियों का नाश करके स्वयं मौज से रहने लगते हैं, इसलिए उनका कहना है कि आर्य लोगों ने भी वैसा ही किया है! वे मर भुक्खे "अन्न अन्न," चिल्लाते हुए, किसको मारें, किसको लूटें

कहते हुए घूमते रहते हैं—आर्य लोगों ने भी वैसा ही किया है !! मैं पूछना चाहता हूँ कि इस धारणा का आधार क्या है ?—क्या सिर्फ अन्दाज ही ? तुम अपना अन्दाज अनुमान अपने घर में रखो !

किस वेद अथवा सूक्त में अथवा अन्यान्य और कहीं तुमने देखा है कि आर्य दूसरे देशों से भारतवर्ष में आये ? इस बात का प्रमाण तुम्हें कहाँ मिला है कि उन लोगों ने जंगली जातियों को मार काटकर यहाँ निवास किया ? बेकार इस अहमकपन की क्या ज़रूरत है ? तुमने तो रामायण पढ़ी नहीं है, फिर व्यर्थ ही रामायण के आधार पर यह बड़ा झूठा किस्सा क्यों गढ़ रहे हो ?

रामायण क्या है—आर्यों के द्वारा दक्षिणी जंगली जातियों की विजय !! हाँ, यह ठीक है कि रामचन्द्र सुसभ्य आर्य राजा थे,

रामायण आर्य जाति द्वारा अनार्य विजय का उपाख्यान नहीं है।

पर उन्होंने किसके साथ लड़ाई की थी ? लंका के राजा रावण के साथ। वह रावण, ज़रा रामायण पढकर तो देखो, सभ्यता में रामचन्द्र के देश से बड़ा चढ़ा था, कम नहीं ! लंका की सभ्यता अयोध्या की सभ्यता से अधिक थी, कम नहीं, इसके अलावा वानरादि दक्षिणी जातियाँ कहाँ जीत ली गई ? वे सब तो श्रीरामचन्द्र जी के दोस्त बन गये थे। किस गुह का या किस बाली नामक राजा का राज्य श्रीरामचन्द्र ने छीन लिया ? कुछ कहो तो सही ?

सम्भव है कि दो एक स्थानों पर आर्य तथा जंगली जातियों का युद्ध हुआ हो। हो सकता है कि दो एक धूर्त मुनि राक्षसों के

जंगल में धूनी रमाकर बैठे हों, ध्यान लगाकर आँखें बन्दकर इस आसरे में बैठे हों कि कब राक्षस उनके ऊपर पत्थर या हाड़मांस फेंकते हैं? ज्योंही ऐसी घटनाएँ होती थीं, कि वे लोग राजाओं के पास फरियाद करने पहुँच जाते थे। राजा जिरह-बख्तर पहनकर, लोहे के हथियार लेकर घोड़े पर चढ़कर आते थे; फिर जंगली जातियाँ हाड़-पत्थर लेकर उनसे कब तक लड़ सकती थीं? राजा उन्हें मारपीट कर चले जाते थे। यह सब होना सम्भव है। किन्तु ऐसा होने पर भी यह कहा लिखा है कि जंगली जातियाँ अपने घरों से भगा दी गईं?

आर्य सभ्यता रूपी वस्त्र के विशाल नदी-नद, उष्ण प्रधान समतल क्षेत्र तन्तु हैं। नाना प्रकार के आर्यप्रधान सुसभ्य, अर्धसभ्य, असभ्य मनुष्य इस वस्त्र के कपास हैं, और इसका ताना है वर्णाश्रमाचार। इसका बाना है प्राकृतिक द्वन्द्व और संघर्ष निवारण।

यूरोपीय लोगो! तुमने कब किसी देश का भला किया है? अपने से अवनत जाति को ऊपर उठाने की तुम में शक्ति कहाँ है?

उपसंहार। जहाँ कहीं तुम ने दुर्बल जाति को पाया, नेस्तनाबूद कर दिया और उसकी निवास-भूमि में तुम खुद बस गये और वे जातियाँ एकदम मटियामेट हो गईं! तुम्हारे अमेरिका का क्या इतिहास है? तुम्हारे आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, प्रशान्त महासागर के द्वीपसमूह और आफ्रिका का क्या इतिहास है?

वे सब जंगली जातियाँ आज कहाँ हैं? एकदम सत्यानाश! जंगली पशुओं की तरह उन्हें तुम लोगों ने मार डाला। जहाँ तुम्हारी शक्ति काम नहीं कर सकी, सिर्फ वहीं अन्य जातियाँ जीवित हैं।

भारतवर्ष ने तो ऐसा काम कभी भी नहीं किया। आर्य लोग बड़े दयालु थे, उनके अखण्ड, समुद्रवत् विशाल हृदय में, दैवी प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्क में उन सब आपातरमणीय पाशविक प्रणालियों ने किसी समय भी स्थान नहीं पाया। स्वदेशी अहमको! यदि आर्यलोग जंगली लोगों को मारपीट कर यहाँ वास करते तो इस वर्णाश्रम की सृष्टि होती?

यूरोप का उद्देश्य है—सब को नाश करके स्वयं अपने को बचाये रखना। आर्यों का उद्देश्य था--सबको अपने समान करना अथवा अपने से भी बड़ा करना। यूरोपीय सभ्यता का साधन—तलवार है, और आर्यों की सभ्यता का उपाय—वर्णविभाग। शिक्षा, सभ्यता के तारतम्य के अनुसार सभ्यता सीखने की सीढ़ी थी—वर्ण-विभाग। यूरोप में बलवानों की जय और निर्बलों की मृत्यु होती है। भारतवर्ष में प्रत्येक सामाजिक नियम दुर्बलों की रक्षा करने के लिए ही बनाया गया है।

मानव जाति की उन्नति के सम्बन्ध में ईसाई और मुसलमानी धर्म की तुलना।

*यूरोपीय लोग जिस सभ्यता की इतनी बड़ाई करते हैं, उसकी उन्नति (Progress of Civilization) का अर्थ क्या है? उसका अर्थ यही है कि सिद्धि अनुचित को उचित बना देती है। चोरी, झूठ अथवा दगाबाजी द्वारा भूखा मुसलमान अपने समान व्यवहार वाले रक्षकों का एक ग्रास अन्न चोरी करने के अपराध में कोड़े एवं फांसी की सजा पाता है,—यही बात सब

---

* पूज्यपाद स्वामीजी के देहावसान के बाद उनके कागज़पत्रों में यह अन्तिमांश मिला था।—सम्पादक

बातों के औचित्य का विधान करती है; "दूर हटो, मैं वहाँ आना चाहती हूँ" इस प्रकार की प्रसिद्ध नीति—जिसका प्रमाण यह है कि जिस जगह यूरोपियनों का आगमन हुआ, वहीं आदिम निवासी जातियों का विनाश हुआ—यही उस नीति के औचित्य का विधान करता है! इस सभ्यता के अग्रगामी लन्दन नगरी में व्यभिचार और पेरिस में स्त्री तथा लड़कों को असहाय अवस्था में छोड़कर भाग जाना एवं आत्महत्या करने को 'मामूली धृष्टता' समझते हैं—इत्यादि।

इस समय मुसलमानों की पहली तीन शताब्दियों के ओज तथा उनकी सभ्यता के विस्तार के साथ ईसाई धर्म की पहली तीन शताब्दियों की तुलना कीजिये। पहली तीन शताब्दियों में ईसाई धर्म संसार को अपना परिचय न दे सका और जिस समय कांस्टेंटाइन (Constantine) की तलवार ने इसे राज्य के बीच में स्थान दिया, उसी दिन से ईसाई धर्म ने आध्यात्मिक या सांसारिक सभ्यता के विस्तार में किस समय क्या सहायता की है? जिन यूरोपीय पण्डितों ने पहले पहल यह सिद्ध किया कि पृथ्वी घूमती है, ईसाई धर्म ने उनको क्या पुरस्कार दिया था? किस समय किस वैज्ञानिक का ईसाई धर्म ने समर्थन किया? क्या ईसाई धर्म का साहित्य दीवानी या फौजदारी, विज्ञान, शिल्प अथवा व्यवसाय कौशल के अभाव को पूरा कर सकेगा? आजतक ईसाई धर्म धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की पुस्तकों के प्रचार की आज्ञा नहीं देता। आज जिस मनुष्य का विद्या या विज्ञान में प्रवेश है वह क्या निष्कपट रूप से ईसाई ही बना रह सकता है? ईसाइयों के नवीन ग्रन्थ (New Testament) में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से किसी भी विज्ञान या

शिल्प की प्रशंसा नहीं है। किन्तु ऐसा कोई विज्ञान या शिल्प नहीं है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कुरान शरीफ या हदीस में अनेक वाक्यों से अनुमोदित या उत्साहित न किया गया हो। यूरोप के सर्व प्रधान मनीषी वाल्टेयर, डारविन, बुकनर, फ्रमारीयन, विक्टर ह्यूगो आदि पुरुषों की वर्तमान ईसाई धर्म द्वारा निन्दा की गई एवं उन्हें अभिशाप दिया गया, किन्तु सभी महात्माओं को इस्लाम धर्म ने आस्तिक माना, कहा केवल यही की इनमें पैगम्बर के प्रति विश्वास न था। सभी धर्मों की उन्नति के बाधक तथा साधक कारणों की यदि परीक्षा ली जाय तो देखा जायगा कि इस्लाम जिस स्थान पर गया है, वहाँ के आदिम निवासियों की उसने रक्षा की है। वे जातियाँ अभी भी वहाँ वर्तमान हैं। उनकी भाषा और जातीयत्व आज भी मौजूद हैं।

ईसाई धर्म कहां ऐसा कार्य दिखा सकता है? स्पेन देश के अरबी, आस्ट्रेलिया और अमेरिका के आदिम निवासी लोग अब कहाँ हैं? यूरोपीय ईसाइयों ने यहूदियों की इस समय क्या दशा की है? एक दान-प्रणाली को छोड़कर यूरोप की कोई भी कार्य-पद्धति ईसाई धर्म-ग्रन्थ (Gospel) से अनुमोदित नहीं है, बल्कि उसके विरुद्ध ही है। यूरोप में जो कुछ भी उन्नति हुई है, वह सभी ईसाई धर्म के विरुद्ध—विद्रोह के द्वारा। आज यूरोप में यदि ईसाई धर्म की शक्ति प्रबल होती तो पास्त (Pasteur) और काक (Coch) की तरह के वैज्ञानिकों को पशुओं की तरह भून डालती और डारविन (Darwin) को फांसी पर लटका देती। वर्तमान यूरोप में ईसाई धर्म और सभ्यता अलग अलग चीजें हैं। सभ्यता, इस समय अपने पुराने शत्रु ईसाई धर्म के नाश के लिए, पादरियों को

मार भगाने और उनके हाथों से विद्यालय तथा दातव्य चिकित्सालयों का खींच लेने के लिए कटिबद्ध हो गई है। यदि मूर्ख किसानों का दल न होता तो ईसाई धर्म अपने घृणित जीवन को एक क्षण भी कायम न रख सकता और स्वयं समूल उखाड़ फेंका जाता, कारण, शहर के रहने वाले दरिद्र लोग इस समय भी ईसाई धर्म के प्रकाश्य शत्रु हैं। इसके साथ इस्लाम धर्म की तुलना करो तो प्रतीत होगा कि मुसलमानों के देश की सारी पद्धतियाँ इस्लाम धर्म के अनुसार प्रचलित हुई हैं और इस्लाम के धर्मप्रचारकों का सभी राजकर्मचारी बहुत सम्मान करते हैं तथा दूसरे धर्मों के प्रचारक भी उनसे सम्मानित होते हैं।

पाश्चात्य देशों में इस समय एक साथ ही लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की कृपा हो गई है। केवल भोग की चीज़ों को ही एकत्रित करके वे शान्त नहीं होते वरन् सभी कामों में एक सुन्दरता देखना चाहते हैं। खान-पान, घर-द्वार सभी में सुन्दरता की खोज है। जब धन था तो हमारे देश में भी एक दिन यही भाव था। इस समय एक दरिद्रता के कारण ही हम लोग 'इतोनष्टस्ततोभ्रष्टः' होते जा रहे हैं। जाति के जो गुण थे, वे मिटते चले जा रहे हैं, पाश्चात्य देश वाले भी कुछ नहीं पा रहे हैं! चलने-फिरने, उठने-बैठने, सभी के लिए हमारा एक कायदा था, वह नष्ट हो रहा है और हम लोग पाश्चात्य कायदे को अपनाने में भी असमथ हैं। पूजा-पाठ प्रभृति आदि जो कुछ था उसे तो हम लोग जल में प्रवाहित किए दे रहे हैं पर समयोपयोगी किसी एक नवीन नियम का अभी भी निर्माण नहीं हो रहा है। हम इस समय दुदशा के

बीच में पड़े हैं, भविष्यत् बंगाल अभी भी अपने पैरों पर नहा खड़ा हुआ है—यहाँ सबसे अधिक दुर्दशा शिल्प की हुई है। पहले सभी वृद्धायें दीवाल में लेप लगातीं और उसे रंग बिरंगा रंगती थीं, तरह तरह के फूल पत्ते बनाती थीं, खाने पीने की चीज़ों को भी शिल्प की चातुरी से सजाती थीं; वह सब या तो चूल्हे में चला गया है या शीघ्र ही जा रहा है! नई चीज़ें अवश्य सीखनी होंगी और करनी भी होंगी, पर क्या पुरानी चीज़ों को जल में डुबाकर? नई बातें तो तुमने खाक सीखे ह, केवल बकवाद करना जानते हो! काम की विद्या तुमने कौनसी सीखी है? आज भी दूर के गाँवों में लकड़ी के और ईंटों के पुराने काम देख आओ। कलकत्ते के बढ़ई एक जोड़ा दरवाजा तक नहीं तैयार कर सकत। दरवाजा क्या—सिटकिनी तक नहीं बना सकते। बढ़ईपना तो अब केवल अंग्रेजी औज़ारों को खरीदने में ही रह गया है! यही अवस्था सब चीज़ों में उपस्थित हो गई है। अथवा जो कुछ था वह सब तो जा रहा है और विदेशी चीजें सीखने में केवल बतोलेंबाजी होता है! खाली किताबें ही तो पढ़ते हो! हमारे देश में बंगाली और विलायत में आयरिश (आयरलैण्ड वाले) दोनों ही एक धारा में बह रहे हैं। खाली बकवाद करते हैं। वक्तृता झाड़ने में ये दोनों जातियाँ खूब निपुण हैं; किन्तु काम करने में एक पैसा भी नहीं; अभागे दिन रात आपस में ही मारकाट करके प्राण देते हैं!

साफ़ सुथरा बनने ठनने में इस देश का इतना अधिक अभ्यास हो गया है कि गरीब से गरीब आदमी की भी इस ओर दृष्टि रहती है। दृष्टि भी किसी मतलब से ही रहती है—कारण, साफ़ सुथरा

कपड़ा-लत्ता न पहनने से कोई उन्हें कामकाज ही न देगा। नौकर, मज़दूरिन, रसोईदारिन सब का कपड़ा दिनरात लकालक रहता है। घरद्वार झाड़-झूड़, धो-पोंछकर साफ-सुथरा किया रहता है। इनकी प्रधान विशेषता यह है कि इधर उधर कभी कोई चीज़ नहीं फेकेंगे। रसोई घर झकाझक; कूड़ाकर्कट जो कुछ फेंकना है, बर्तन में फेकेंगे; फिर उस स्थान से दूर ले जाकर फेकेंगे। न आंगन में और न रास्ते में ही फेकेंगे।

जिनके पास धन है उनका घर देखने की चीज़ होती है—रातदिन सब झकाझक रहता है। इसके बाद देश-विदेशों की नाना प्रकार की कारीगरी की चीजें एकत्रित करते हैं। इस समय हमें उनकी तरह कारीगरी की चीजों को एकत्रित करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जो चीज़ें नष्ट हो रही हैं उनके लिए तो थोड़ा यत्न करना पड़ेगा या नहीं? उनकी तरह का चित्रकार या संगतराश स्वयं होने के लिए अभी भी बहुत देरी है। इन दोनों कामों में हम लोग बहुत दिनों से ही अपटु हैं। हमारे ठाकुरजी तक कितने सुन्दर होते हैं यह तो जगन्नाथ जी को ही देखने से पता लग जाता है! बहुत प्रयत्न से उनकी नकल करने पर कहीं एक-आध रविवर्मा पैदा होते हैं। इसकी अपेक्षा देशी ढंग के चित्र बनाना अधिक अच्छा है—उनके कामों में फिर झकाझक रङ्ग है। इन सबको देखने से रविवर्मा के चित्रों का लज्जा से सिर नीचा हो जाता है! जयपुर के सुनहले चित्र और दुर्गाजी के चित्र आदि देखने में सुन्दर हैं। यूरोपियनों की पत्थर की कारीगरी आदि की बातें दूसरे प्रबन्ध में कही जाएँगी। यह एक बहुत बड़ा विषय है।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. श्रीरामकृष्णवचनामृत–तीन भागों में-अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'; प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण) —मूल्य ६); द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग–मूल्य ७॥)

४-५. श्रीरामकृष्णलीलामृत—(विस्तृत जीवनी) — (द्वितीय संस्करण)- दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ... ... ५)

६. विवेकानन्द-चरित-(विस्तृत जीवनी)–सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. विवेकानन्दजी के संग में-(वार्तालाप)–शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि.सं. मूल्य ५)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. भारत में विवेकानन्द–(विवेकानन्दजी के भारतीय व्याख्यान) ५)

९. ज्ञानयोग	(प्रथम संस्करण)	३)
१०. पत्रावली (प्रथम भाग)	(प्रथम संस्करण)	२=)
११. ,, (द्वितीय भाग)	(प्रथम संस्करण)	२=)
१२. धर्मविज्ञान	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१३. कर्मयोग	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१४. हिन्दू धर्म	(द्वितीय संस्करण)	१॥)
१५. प्रेमयोग	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१६. भक्तियोग	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१७. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग	(तृतीय संस्करण)	१।)
१८. परिव्राजक	(चतुर्थ संस्करण)	१।)
१९. स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप	(प्रथम संस्करण)	१।)
२०. महापुरुषों की जीवनगाथायें	(प्रथम संस्करण)	१।)
२१. राजयोग	(प्रथम संस्करण)	१=)
२२. स्वाधीन भारत ! जय हो !	(प्रथम संस्करण)	१=)
२३. धर्मरहस्य	(प्रथम संस्करण)	१)
२४. भारतीय नारी	(प्रथम संस्करण)	॥।)
२५. शिक्षा	(प्रथम संस्करण)	॥=)
२६. शिकागोवक्तृता	(पञ्चम संस्करण)	॥=)

२७. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वितीय संस्करण) ॥=)
२८. मेरे गुरुदेव (चतुर्थ संस्करण) ॥=)
२९. कवितावली (प्रथम संस्करण) ॥=)
३०. वर्तमान भारत (तृतीय संस्करण) ॥)
३१. सरल राजयोग (प्रथम संस्करण) ॥)
३२. पवहारी बाबा (द्वितीय संस्करण) ॥)
३३. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वितीय संस्करण) ॥)
३४. मरणोत्तर जीवन (द्वितीय संस्करण) ॥)
३५. मन की शक्तियाँ तथा जीवनगठन की साधनायें ॥)
३६. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ—स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द, मूल्य ॥=)
३७. मेरी समर-नीति (प्रथम संस्करण) ।≈)
३८. ईशदूत ईसा (प्रथम संस्करण) ।=)
३९. वेदान्त-सिद्धान्त और व्यवहार—स्वामी शारदानन्द ।=)
४०. विवेकानन्दजी की कथायें (प्रथम संस्करण) १।)
४१. परमार्थ-प्रसंग—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)
४२. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (प्रथम संस्करण) ॥=)

मराठी विभाग

१-२. श्रीरामकृष्ण-चरित्र—प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति) ३।)
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ३।)
३. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा— (दुसरी आवृत्ति) ॥।=)
४. शिकागो-व्याख्यानें—स्वामी विवेकानंद (दुसरी आवृत्ति) ॥=)
५. माझे गुरुदेव—स्वामी विवेकानंद (दुसरी आवृत्ति) ॥=)
६. हिंदु-धर्माचें नव-जागरण—स्वामी विवेकानंद ॥-)
७. पवहारी बाबा—स्वामी विवेकानंद ॥)
८. साधु नागमहाशय-चरित्र-(भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य)— (दुसरी आवृत्ति) २)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर-१, मध्यप्रदेश